प्रकाशक—

हिन्दी विद्या मन्दिर

पहाड़ी धीरज, दिल्ली।

प्रथमावृत्ति

माह, १९९२ विक्रम,

वीर निर्वाण सं० २४६२

जनवरी, १९३६ ईस्वी

मूल्य छः आना

मुद्रक—

मेहरोत्रा प्रेस

नई सड़क, दिल्ली

हमारा उत्थान और पतन

स्वर्गीय मनोरंजन कुमार

[जन्म आषाढ़ सुदी ४ सं० १९७४
मृत्यु असौज सुदी १२ सं० १९८८]

स्वर्गीय

समोशरनकुमार

(सुपुत्र ला० छुट्टनलालजी मैदेवाले)

की

स्मृति

में

प्रकाशित

राजपूताने के जैन वीर

[भू० ले० रा० ब० महामहोपाध्याय पं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा]

श्री अयोध्याप्रसाद गोयलीय की आग्नेय क़लम से लिखी गई उक्त पुस्तक जैन-समाज की हड्डियों में घुसी हुई सर्दी को सुखा देगी, जैनियों को कायर समझने वालों की आँखें खोल देगी, भीरु और कायरों के ठण्डे लहू में उबाल लाकर उन्हें मर्द बनायेगी और देवियों को आत्म-रक्षा करना सिखायेगी। इस क्रान्तिकारी ऐतिहासिक ग्रन्थ के सम्बन्ध में कुछ ख्यातनामा विद्वानों और पत्रों की सम्मति पढ़िये :—

१—दीवानबहादुर हरविलास सारदा, भू० पू० एम० एल० ए०:-

"राजपूताने से प्रेम रखने वालों और जैन महाशयों को यह किताब जरूर पढ़ना चाहिये। जैन युवकों के लिये तो इसका पढ़ना ज़रूरी है"।

२—पं० जयनारायण व्यास भू० पू० सम्पादक 'तरुणराजस्थान':-

"इससे राजपूताने का संक्षिप्त परिचय, वहाँ के ऐतिहासिक स्थानों का दिगदर्शन, तत्सम्बन्धी सुन्दर काव्य का आस्वादन और यदि भावनायें हैं, तो कर सकते हैं अपने में जीवन संचार भी"।

३—प्रोफेसर हीरालाल ऐडवर्ड कालेज अमरावती :—

"अपनी प्राचीन कीर्ति का स्मारक यह ग्रन्थ किस को प्रिय

न होगा? पुस्तक की भाषा ओजस्वी और हृदयग्राही है। ऐतिहासिक वार्ता को रोचक बना दिया है"।

४—प्रिंसीपिल वंशीधर जैन एम० ए० :—

"जैन समाज में वीरता पूर्ण साहित्य की परमावश्यकता थी, गोयलीयजी ने प्रस्तुत पुस्तक लिख कर इस कमी को पूर्ण करने का सफल प्रयत्न किया है"।

५—श्री० जगदीशसिंह गहलोत, एम० आर० ए० एस० :—

"यह बहुत ही आकर्षकता पूर्ण पुस्तक लिखी गई है। चित्रों ने इतिहास की रोचकता को और भी बढ़ा दिया है"।

६—प्रोफेसर ए० एन० उपाध्याय एम० ए० राजाराम कालेज :-

"लेखक की वर्णन शैली खूब है। जैन पूर्वजों की कीर्ति-गाथाओं को जिन रंगों में चित्रित किया है, उसके लिये बधाई"।

७—प्रो० घासीराम एम०एस० सी० विक्टोरिया का० ग्वालियर:-

"लेखक ने हिन्दी भाषी समुदाय को उन राष्ट्रीय वीरों की जीवनियाँ लिख कर ऋणी बनालिया है जो जैन थे। पुस्तक गहरी खोज के साथ लिखी गई है और खूब पढ़ी जानी चाहिये"।

८—विद्यावारिधी बैरिस्टर चम्पतराय, लण्डन :—

"इस पुस्तक को मैंने बहुत पसन्द किया है"।

९—जैन पुरातत्ववेत्ता पं० जुगलकिशोर मुख्तार :—

"अनेक जैन-वीरों की लुप्तप्राय कीर्ति को अमर बनाने के लिये जो परिश्रम किया गया है।........मैं इसका अभिनन्दन करता हूँ"।

१०—हिन्दी संसार में प्रख्यात श्री जैनेंद्रकुमार :—

"पुस्तक ज़िन्दादिली के साथ लिखी गई है"।

११—मासिक विश्वमित्र (अगस्त सन् ३३) कलकत्ता :—

"जैनियों के लिये यह पुस्तक महत्वपूर्ण सिद्ध होगी"।

१२—हंस (जून सन् ३३) काशी :—

"पुस्तक युवकोचित ज़िन्दादिली के साथ लिखी गई है"।

१३—प्रताप (१०-६-३३) कानपुर :—

"हिन्दी का यह दुर्भाग्य है कि उसमें वीरों की गाथाओं सम्बन्धी पुस्तकें लगभग नहीं के बराबर हैं। श्रीयुत गोयलीय ने इस ओर सराहनीय प्रयास किया है। हिन्दी भाषा-भाषी जनों को इसे निस्संकोच अपनाना चाहिये"।

१४—स्वराज्य (१३ जून ३३ ई०) खंडवा :—

"पुस्तक में जैनवीरों के विधर्मियों से युद्ध एवं उनके अद्भुत आत्म-त्याग का रोमांचकारी वर्णन पढ़ते हुये उस पुरातन राजपूती शान का प्रत्यक्ष चित्र आँखों के सामने उपस्थित हो जाता है। पुस्तक संग्राह्य है"।

१५—हिन्दुस्तान टाइम्स (१८ सितम्बर) देहली :—

"पुस्तक अच्छी लिखी गई है, आधुनिक है। यह देखकर प्रसन्नता है कि लेखक में किसी तरह का पक्षपात नहीं है। उसने शुद्ध चित्त से लिखा है। जिनकी धारणा है कि जैन-धर्म से भारतियों के वीरोचित गुण कम हुये हैं, उनके लिये यह पुस्तक अच्छे जवाब का काम देगी"।

यह जीवन संचारक पुस्तक मंगाकर विद्यार्थियों को पारितोषक में, मित्रों को उपहार में, पुत्रियों को दहेज में, बहुओं को मुँह दिखाई में एवं साधुओं, मन्दिरों व पुस्तकालयों को भेट में दीजिये। २८ पौण्ड के बढ़िया एण्टिक पेपर पर छपाई सफ़ाई दर्शनीय पृ० ३५२ और १० मनमोहक दुष्प्राप्य चित्र। मूल्य केवल दो रुपये।

आर्य-जीवन

इस पुस्तक के मूल लेखक हैं उड़िया प्रान्त के प्रसिद्ध साहित्य सेवी प्रकाण्ड राजनीतिज्ञ पं० नीलकण्ठदास एम० ए० एम एल ए., और छाया लेखक हैं हिन्दी संसार के लब्धप्रतिष्ठ श्री जैनेंद्रकुमार जी। पुस्तक का प्रत्येक अक्षर हृदय में उतारने योग्य है। प्रचारार्थ मूल्य डेढ़ रुपये की जगह आठ आने कर दिया है।

हिन्दी विद्या मन्दिर

पहाड़ी धीरज देहली।

विषय-सूची

विषय | पृष्ठ

प्रथम-प्रकरण

[ई० स० से पूर्व का भारत]

द्वितीय–प्रकरण

[ई० स० प्रारम्भ से ई० स० ६०० तक]

तृतीय--प्रकरण

[ई० स० ६०० से १२०० तक]

सिंहावलोकन

श्रीमती सावित्री देवी
(लेखक की माँ)

माँ के चरणों में

समर्पित

वक्तव्य

—:०:—

प्रस्तुत पुस्तक का यह प्रथम खण्ड २४-१२-३३ को लिखना प्रारम्भ हुआ और ६-१-३४ को समाप्त हो गया। इसका द्वितीय खण्ड (मुस्लिम कालीन भारत) भी प्रायः समाप्ति पर था और तृतीय खण्ड (वर्तमान भारत) लिखना शेष था कि अनिवार्य विघ्न-बाधाओं के कारण लेखन-कार्य रुक गया। तब से अब तक इसी आशा से कि तीनों खण्ड सम्मिलित प्रकाशित हों, यह प्रथम खण्ड बस्ते में पड़ा रहा, किन्तु आगे के दोनों खण्ड अभी तक सम्पूर्ण न होसके और न उनके शीघ्र समाप्त होने की आशा ही है। इसलिये दो वर्ष के बाद इस प्रथम खण्ड को ही पुनः संशोधित, परिवर्तित और परिवर्द्धित करके प्रकाशित कराने की यह योजना की गई है। पुस्तक के प्रत्येक खण्ड का विषय भिन्न-भिन्न होने के कारण उनके पृथक-पृथक प्रकाशित होने से पाठकों को कुछ भी असुविधा नहीं होगी।

आर्य-कालीन भारत में हिन्दू--बौद्ध और जैन त्रिवेणी रूप में प्रवाहित हुये, उनका विमल यश चारों ओर फैला। अतः प्रस्तुत खण्ड में इस त्रिवेणी का समान रूप से विवेचन होना चाहिये था; किन्तु तत्कालीन हिन्दू–बौद्ध सम्बन्धी अनेक उत्तमोत्तम ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं और हो रहे हैं। सर्व-साधारण को इस सम्बन्ध की काफी जानकारी है। अतः प्रस्तुत खण्ड में प्रख्यात् विद्वानों द्वारा लिखी गयीं, सार्वजनिक प्रचलित बातों की पुनरावृत्ति करना, माँ के समक्ष ननिहाल की प्रशंसा करने के समान होता। दूसरे जैनों के सम्बन्ध में इस ढंग का साहित्य उपलब्ध न होने के कारण सर्वसाधारण तत्कालीन जैन-उल्लेखों से प्रायः अपरचित हैं। इसीलिये प्रस्तुत खण्ड को सार्वजनिक दृष्टि से लिखते हुये भी मैंने कहीं--कहीं हिन्दू-बौद्ध सम्बन्धी प्रचलित और प्रसिद्ध बातों को गौण रूप देकर जैन प्रसङ्ग का कुछ विशेष उल्लेख कर दिया है। जिससे कि बुद्ध, अशोक, पुष्यमित्र विक्रमाजीत, भोज, हर्षवर्द्धन की तरह, जनता वर्द्धमान, खारवेल, कुमारपाल आदि जैन महापुरुषों को भी जान सके।

प्रस्तुत खण्ड में अनिच्छा होते हुये भी एक-दो स्थल पर प्रसङ्ग वश धर्मान्धों द्वारा जैनियों पर किये गये अत्याचारों की ओर संकेत हो गया है। इस से मेरी इच्छा किसी का दिल दुखाने की अथवा जैनियों की ओर से वकालत करने की नहीं है। धर्मान्ध मनुष्य किसी भी धर्म का अनुयायी हो,

वह अपने से भिन्न धर्मियों को नीच, पतित समझता है और यथा शक्ति उनको नुकसान पहुँचाने का प्रयत्न करता रहता है। ऐसे मनुष्य पृथ्वी के लिये भार स्वरूप होते हैं। इन्हीं धर्मान्धों द्वारा अनेक बार संसार में मनुष्यों के रक्त की नदियाँ बहाई गई हैं, विश्व की सुख-शान्ति को छिन्न-भिन्न किया गया है। ऐसे भयानक मनुष्य प्रतिद्वान्द धर्मों के लिये दुखदायी बने रहते हैं। यही धर्मान्ध जब किसी कारण से धर्म-परिवर्तन कर लेते हैं; तब अपने पूर्व धर्म की जड़ में भी कुठाराघात करने से नहीं चूकते। किन्तु इन धर्मान्धों के कारण उनके धर्म की पवित्रता नष्ट नहीं हो सकती। किसी भी धर्मानुयायी द्वारा अन्य धर्मियों पर अत्याचार किये गये हों, उसके धर्म को लाँच्छना नहीं दी जा सकती। वह उसका व्यक्तिगत अपराध है और वही उस पाप का ज़िम्मेदार है। एक मुस्लिम शासक द्वारा हिन्दुओं पर अत्याचार किये जाने के कारण इस्लाम बदनाम नहीं किया जा सकता। इसका उत्तरदायी वह नीच मनोवृत्ति वाला धर्मान्ध शासक ही रहेगा। हिन्दुओं में रावण, कंस, हिरणाकुश, दुर्योधन, आदि अनेक अत्याचारी राजा हुये हैं, इससे हिन्दूधर्म कलंकित नहीं हो सकता। इसी प्रकार अन्य धर्मों में भी पतित कलंकी मनुष्य हुये हैं। ! ऐसे अत्याचारियों के कारनामे उनके धर्म-ग्रन्थों में भरे पड़े हैं। पुस्तक में वर्णित जैनियों के प्रति अत्याचार करने वाले व्यक्ति यदि दुर्भाग्य से जैन हुये होते, तो कौन

कह सकता है कि वह भिन्न धर्मियों पर अत्याचार न करते ! ऐसे धर्मान्ध मनुष्य अपने अवगुणों के कारण धर्म की आड़ लेकर स्वार्थ वश भिन्न धर्मियों और सहधर्मियों पर अत्याचार करते रहते हैं। दक्षिण के कई जैन राजा, धर्म-परिवर्तन कर लेने पर जैनधर्म के लिये काल रूप हुये।

जिन ग्रन्थों का अध्ययन करके उनके अवतरण उद्धृत करके मैं इस खण्ड को प्रस्तुत करने में समर्थ हुआ हूँ उन ग्रन्थों के विद्वान् लेखकों—सम्पादकों के प्रति अत्यन्त कृतज्ञ हूँ।

इस पुस्तक के प्रकाशन का व्यय एक ऐसे जिद्दी महानुभाव की ओर से हुआ है जो अपना नाम किसी हालत में प्रकाशित नहीं कराना चाहते। अस्तु, पुस्तक का मूल्य लागतमात्र ही रक्खा गया है। बिक्री का रुपया इसी मध्ये जमा किया जायगा।

पहाड़ी धीरज, दिल्ली
९ जनवरी १९३९

विनीत
अ० प्र० गोयलीय

हमारा उत्थान और पतन ।

प्रथम खण्ड

१

आर्य्य-कालीन भारत ।

[महाभारत से ईस्वी सन् ११९३ तक]

हमारा उत्थान और पतन।

(१)

वीरों की सन्तान, मान पर जो मरते थे;
करते थे शुभ कर्म, धर्म-धीरज धरते थे।
भरते थे नव-भाव दीन का दुख हरते थे;
कभी स्वप्न में भी न टेक से जो टरते थे।
डरते थे जो पाप से, आज पाप की खान हैं!
गुण-गौरव से हीन हो, जीवित मृतक समान हैं!!

(२)

आजीवन जो रहे, धर्म की वेल बढ़ाते;
गो-रक्षा, वाणिज्य, कृषी का पाठ पढ़ाते।
समय-समय पर समुद आत्म बलिदान चढ़ाते;
सब प्रकार जो रहे सुयश-गढ़ स्वयं गढ़ाते।
लिखे हुए इतिहास में, जिनके कोटि कमाल हैं!
उनके वंशज ही हुये, हा! कैसे पामाल हैं!!

(३)

जो स्वदेश के लिये जान पर खुल कर खेले;
हँस हँस सङ्कट सदा करोड़ों सर पर झेले।
पता नहीं वे हुए किस गुरू के अब चेले;
प्राण लिये फिर रहे वीर, जो थे अलबेले।
जिन्हेंन जीवन भर रही, कभी कामना काम की!
डुबो रहे नैया वही प्यारे भारत नाम की!!

—कण्टक

प्रथम प्रकरण ।
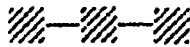
[ईस्वी सन् से पूर्व का भारत]

हम क्या थे ? यह पुरानी बात है, अब इसका रोना क्या ? गुज़रे हुये दिन याद करने से क्या लाभ ? बिहाग के वक्त मल्हार का प्रलाप कर्ण-कटु प्रतीत होता है, दिवालिये के मुँह से बड़प्पन की बात शोभा नहीं देती ।

आग थे हम इब्तदाये इश्क में ।
होगये अब ख़ाक ये हैं इन्तिहा ।।

—अज्ञात्

महाभारत और भारत की परिस्थिति

जिसमें जन्म लेने को स्वर्ग के देवता लालायित रहते थे वही भारत, ग़ारत हो गया—यह क्यों ? अनेक महानुभावों का विश्वास है कि महाभारत का युद्ध होने से ही भारत ग़ारत हुआ,* पर नहीं, भारत ग़ारत होचुका था, इसलिये महाभारत हुआ । अन्यथा भाई-भाई का, शिष्य-गुरू का, मामा-भानजे का, साला-बहनोईका,

---

* भारत न दुर्दिन देखता मचता "महाभारत" न जो ।
—मैथिलीशरण गुप्त

पौत्र-पितामह का संहार करने को प्रस्तुत क्यों कर होसकता था ? संसार में इसके सिवाय ऐसे गृह-युद्ध की घटना घटित ही नहीं हुई। जब कुन्ती जैसी विदुषी नारी लोकभय से शिशु-हत्या कर सकती है—नवजात बालक कर्ण को दरिया में बहा सकती है, धर्मराज कहलाने वाले युधिष्ठिर मन बहलाव के लिये—खेल ही खेलमें—द्यूतक्रीड़ा करते हुये द्रोपदी जैसी पतिव्रताको दांवपर लगा सकते हैं, प्रसिद्ध सत्यवादी होते हुये भी, तुच्छ विजय के लोभ में गुरू से झूठ बोल कर विश्वासघात कर सकते है, अर्जुन जैसे पराक्रमी शूर-वीर शिखण्डी की आड़ में भीष्म पितामह का वध कर सकते हैं, भीम जैसे योद्धा, युद्ध-नियम के विपरीत दुर्योधन की जांघ पर गदा-प्रहार करसकतेहैं, धृतराष्ट्र जैसे वयोवृद्ध न्यायाधीश अपनी भतीज-वधू की भरे दरबार में साड़ी खिचती हुई—अस्मत उतरती हुई—देख सकते हैं, विराट् जैसे अनाथ-रक्षक राजा, शरण में आयी हुई द्रोपदी को, अपने साले की अनर्थकारी उद्दण्डता से बचाने का साहस न करके, साम्यभाव से देख सकते हैं, बाल-ब्रह्मचारी कहलाने वाले भीष्म पितामह अपने कुटम्बियों के लिये कुमारी कन्याओं का बलात् हरण कर सकते हैं, तुच्छ नौकरी के कारण द्रोणाचार्य जैसे स्वाभिमानी ब्राह्मण, अन्यायी के पक्ष में युद्ध कर सकते हैं, तब उस समय भारतवर्ष * की क्या अवस्था होगी ? महापुरुष कहलाये जाने वालों का ही जब यह हाल था, तब सर्वसाधारण का क्या हाल होगा—उनमें

व्यभिचार, मायाचार और रक्तलिप्सा का कितना अधिक अंश होगा—यह सहज में ही अनुमान किया जासकता है।

* भारतवर्ष का नाम पहले सप्त सैन्धव था। पूर्वकाल में पंजाब का पाँच नदियों (सतलुज, व्यास, रावी, चुनार, जेहलम,) और गंगा, यमुना के तट्वर्ती प्रदेशों पर आर्यों का निवास था। इन सात नदियों के कारण ही यह देश सप्त सैन्धव कहलाता था। हमारी इस मातृ-भूमि का भारत नाम करण जैनधर्म के प्रथम तीर्थङ्कर भगवान् ऋषभदेव के ज्येष्ठपुत्र भरत चक्रवर्ति के नाम पर हुआ है। श्री मद्भागवत स्कन्ध ५ अध्याय ४ में लिखा है:—

येषां खलु महायोगी भरतो ज्येष्ठ: श्रेष्ठगुण आसीत्। येनेदं वर्षं भारतमिति व्यपदिशन्ति ॥ ६ ॥

अर्थात्:—भगवान् ऋषभदेव के बड़े पुत्र का नाम भरत था इसी से इस देश को भारत कहते हैं। (भारत के प्राचीन राजवंश भाग २ पृ० १)

पारसीलोग सिन्धु नदी को हिन्धु कहतेथे,वे "स" को "ह" बोलतेहैं। इसीलिये पारसियों की बोलचाल में आर्यहिन्दु कह लाये और तब आर्यों के निवास्थान को हिन्दुस्थान भी कहा जाने लगा। उसके बाद ग्रीक लोगों ने सिन्धु को "इण्डस" कहा। इसी कारण उन्होंने सम्पूर्ण देश को इण्डिया कहना प्रारम्भ कर दिया। भारत का एक प्राचीन नाम "जम्बुद्वीप" भी है। इस प्रकार हमारी मातृ-भूमि के नामों में परिवर्तन हुआ, किन्तु राजनैतिक महत्व "भारत" नाम का ही है। यह नाम बताता है कि यह देश भी राजनैतिक दृष्टि से एक साम्राज्य और एक शासन के आधीन रहा है।

महाभारत होनेसे पूर्व ही भारतवर्ष, चारित्र और विवेक-बुद्धि से हाथ धोकर दुराचार एवं अज्ञानान्ध के मोहपाश में पड़कर अपने पूर्व वैभव को तिलाञ्जलि दे चुका था। अपनी पाशविकवृत्ति से प्रेरित होकर ही उस समय भारत-पुत्रों ने "महाभारत" नामक नर-मेध यज्ञ का अनुष्ठान किया था, मानों महापुरुष कहलाये जाने वाले महानुभावों का वास्तविक रूप दिखाने के लिये ही प्रकृति ने यह खेल रचा था। बहुत दिनों से जो माया, दम्भ, स्वार्थ के परमाणुओंने भारत के स्वच्छ आकाश को धूलधूसरित कर दिया था, वह राज्य-लिप्सा की गर्मी पाकर "महाभारत" ❋ के रूप में भारत की भविष्य उन्नत-कृषि पर ओले बनकर बरस पड़े थे।

महाभारत होने से पूर्व भारत का आध्यात्मिक पतन तो हो ही चुका था किन्तु इससे व्यवहार में लोकहित का कितना नाश हुआ? यह आज ५००० वर्ष पीछे बताना नितान्त अशक्य है।

१—यह युद्ध दिल्ली से उत्तर कुरुक्षेत्र के विशाल मैदान में १८ दिन तक हुआ था, और उस समय के प्रत्येक प्रसिद्ध राजा ने कौरवों अथवा पाण्डवों की ओर से इसमें भाग लिया था। इस युद्ध में अठारह अक्षौहणी सेना (११ कौरवों और ७ पाण्डवों की ओर से) सम्मिलित हुई थीं। तत्कालीन सेना-विभाग निम्न प्रकार था:—

फिर भी कुछ अवतरण देकर प्रकाश में लाने का प्रयत्न किया जाता है।

	पत्ति सेना	सेना मुख	गुल्म सेना	गण सेना	वाहिनी सेना	पृतना सेना	चमू सेना	अनीकिनी सेना	अक्षौहणी सेना
हाथी	१	३	९	२७	८१	२४३	७२९	२१८७	२१८७०
रथ	१	३	९	२७	८१	२४३	७२९	२ १८७	२१८७०
घोड़े	३	९	२७	८१	२४३	७२९	२१८७	६५६१	६५६१०
पैदल	५	१५	४५	१३५	४०५	१२५५	३६४५	१०९३५	१०९३५०

मेगास्थनीज़ के भारत-वर्षीय वर्णन से प्रकट होता है कि, हाथियों पर एक महावत और तीन सिपाही, रथ में एक सारथी और दो योद्धा बैठते थे। अतएव इस हिसाब से महाभारत युद्ध में १८ अक्षौहणी सेना में:—

३९३६६० हाथी उनके ३९३६६० महावत
(हाथियों पर बैठने वाले सिपाही) ११८०९८० सिपाही
३९३६६० रथ उनके ३९३६६० सारथी
रथों में बैठकर युद्ध करने वाले ७८७३२० योद्धा
११८०९८० घोड़े उनके ११८०९८० सवार
१९६८३०० पैदल सिपाही

यदि प्रत्येक रथ में दो घोड़े जुते हुये ही मान लिया जाय तब. २३६०९८० हाथी, घोड़ों और ५९,०४९०० मनुष्यों का इस. युद्ध में वध हुआ।

धन-नाश

"सबसे पहले धननाश को लीजिये, जिसका हमारे पास कोई लेखा है ही नहीं। यह धन-नाश भी दो प्रकार से हुआ, एक प्रत्यक्ष और दूसरा परोक्ष। प्रत्यक्ष तो वह है, जो इस युद्ध में व्यय हुआ, और अप्रत्यक्ष वह है, जो युद्ध के कारण होने वाले अनिवार्य सङ्कट, बेरोजगारी आदि के कारण उस समय सार्वजनिक जनता को भुगतना पड़ा होगा। जिसका ठीक ठीक हिसाब लगाना मनुष्य की शक्ति से बाहर की बात है"।

जन-नाश

"यदि जन-नाश पर ध्यान दिया जाय तो, वह सचमुच में भीषण और हृदय दहला देनेवाला है। धन, चाहे कितना ही अधिक क्यों न नष्ट हुआ हो, पर उसकी पूर्ति यदि आज नहीं तो कल, और कल नहीं तो सौ वर्ष बाद भी पूरी हो सकती है। पर, जन-नाश की पूर्ति भला कब और कैसे हो सकती है? अठारह अक्षौहिणी सेना के आदमी महाभारत के नर-मेध-यज्ञ में स्वाहा किये गये, क्या उनमें से एक भी आदमी जीवित हुआ? कदापि नहीं! युद्ध में सदा युवक और हृष्ट-पुष्ट लोग ही सम्मिलित होते हैं। उनके मारे जाने से देश की जनन-शक्ति नष्ट हो जाती है। इस प्रकार यदि यह देखा जाय कि इस महाभारत के युद्ध से कितनी जन-हानि हुई, तो फिर यही कहना पड़ता है, कि उसका हिसाब लगाना नितान्त असम्भव है। गत सन १४ के योरुपीय महासमर में

अमेरिका के एक पत्र संवाददाता मि० विल इरविन गये थे। उनके विवरण से युद्धों में होनेवाले नाशकारी उदाहरणों का ज्ञान हो जाता है। वे लिखते हैं:—

"यह एक मानी हुई बात है कि, जो लोग सबसे अधिक वीर होते हैं, वे वही लोग होते हैं जो शारीरिक और आत्मिक दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ होते हैं। .... इसका परिणाम् यह होता है कि वीरों में से ही सबसे अधिक जन-हानि होती है।........जिनकी ऊँचाई कम होती है, जिनके रग-पुट्ठे मज़बूत नहीं होते, जिनका दिमाग़ ठीक-ठीक काम नहीं करता, अथवा जो और किसी प्रकार के वंशानुक्रमिक रोगों से पीड़ित होते हैं, वही लोग देश में सन्तान-वृद्धि का काम करने के लिये छोड़ दिये जाते हैं। बाक़ी सब युद्ध में कट मरने को बाध्य किये जाते हैं। ... – युद्ध का सबसे अधिक भीषण और नाशक प्रभाव बालकों पर पड़ता है। यदि सच पूछिये तो युद्ध-क्षेत्र में भी, घरमें भी, और बाहर भी, सबसे अधिक बालकों का ही बलिदान होता है। नागरिक समुदाय की सबसे बड़ी हानि, छोटी अवस्था में बालकों के मरने और जन्म-संख्या के घटने से ही होती है। इन अबोध शिशुओं का नाश दोहरा होता है। युद्ध के कारण लाखों तो प्रस्तुत बालक मरते हैं और लाखों भावी सन्तान का नाश होता है। प्रायः देखा गया है कि युद्ध के समय अच्छी दशा में रहनेवाली स्त्रियों की भी जनन-शक्ति कम होती जाती है। इससे यह सिद्ध होता है कि युद्ध का मन पर भी बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है, और यह

प्रभाव यहां तक बुरा होता है कि, इससे स्त्रियों में अस्थायी ही सही, पर बांझपन अवश्य आजाता है। प्रोफेसर सरजी नामक एक इटालियन विद्वान् ने इस बात की बहुत दूर तक खोज की है। उनका मत है कि युद्ध में सन्तान उत्पन्न करनेवाले नव-युवकों का जो नाश होता है, वह तो होता ही है, पर साथ ही जाति भी सहसा बहुत ही बुरी अवस्था में पहुँच जाती है। इन दुरावस्थाओं के कारण मनुष्य के मस्तिष्क, आत्मा और विचारों आदि पर इतना बुरा प्रभाव पड़ता है कि उनमें बहुत कुछ विकार आजाता है। इससे मनुष्य में दुर्बलता, चिन्ता, शोक और अनेक प्रकार के कष्ट उत्पन्न होते हैं। और इन कष्टों को युद्ध से होनेवाली आर्थिक कठिनाइयां और भी भीषण बना देती हैं। और इन सब बातों का राष्ट्रों की आर्थिक अवस्था पर बहुत ही हानिकारक प्रभाव पड़ता है। अनेक विद्वानों का मत है, और वह बहुत ठीक है कि युद्ध-काल में जो हानियां होती हैं, वे उन हानियों के मुकाबिले में कुछ भी नहीं, जो युद्ध के उपरान्त होने लगती हैं। युद्ध की सारी भीषणता तो उसके समाप्त होजाने पर ही अपनी विकराल-मूर्ति दिखलाना प्रारम्भ करती है। युद्ध के पश्चात् का काल ही सर्व साधारण के लिये सबसे अधिक भीषण होता है। युद्ध के समय तो किसी को कुछ देखने सुनने का अवसर ही नहीं मिलता और यदि अवसर मिले भी तो कई बातें ऐसी होती हैं, जिनके कारण वह भीषणता किसी को दिखलाई नहीं देती। युद्ध के बाद एक और बात होती है, वह

यह कि, लोगों को अपनी क्षत-पूर्ति के लिये उद्योग करने के सिवाय और कोई अच्छा काम करने का अवसर ही नहीं मिलता। और यदि कुछ काम करने का अवसर मिल भी गया तो, बेईमानी, छलकपट, दग़ाबाज़ी और चालाकी अपना राज्य जमाने लगते हैं"❀।

भारत अपने उच्चासन से गिरकर सम्हल भी न पाया था, कि "महाभारत" के चर्के ने उसकी रीढ़ की हड्डी तोड़ कर और भी कोढ़ में खाज का काम कर दिया। भारत के होनहार पट्ठे चढ़ती जवानी में विदा हुये, वीर-प्रसव योग्य ललनायें भरी जवानी में विधवा हुईं, सुकुमार बालक और बालिकायें खिलने से पूर्व ही करालकाल ने तोड़ लिये। डकराती हुई वृद्धायें निपूती बन गईं। और दुर्भाग्य से कहिये या सौभाग्य से, कुछ निर्वीर्य्य, अस्वस्थ्य, अधेड़ जो बचे रहे, उन्हीं से भारत की भावी सन्तान-कृषि के सिंचन का कार्य लिया गया।

उन्हीं दिनों जब कि भारत ग़ारत हो रहा था, धर्म का नाश हो रहा था, ऋषि-मुनि बनों में तपश्चर्या करते थे, किन्तु संसारी

नेमिनाथ और कृष्ण

मनुष्य गृह-युद्ध में लिप्त थे। एक दूसरे के रक्त का प्यासा बन रहा था, स्वार्थ ने मनुष्य को

❀ श्री० रामचन्द्र वर्मा कृतः—गोरों का प्रभुत्व पृ० २०६-२६।

अन्धा बना दिया था, तभी शायद इस नियम के अनुसार:—

जब अधर्म का दुखद राज्य होता है जारी।
होते हैं अन्याय जगत में निशिदिन भारी॥
सामाजिक सब रीति-नीतियां नस जाती हैं।
अनाचार की वृत्ति हृदय में बस जाती हैं॥
तब सत्पुरुषों का यहां होता झट अवतार है।
जो अपने सच्चरित से, हरते पापाचार हैं॥

—पुष्कर

भगवान् नेमिनाथ और आनन्द कन्द योगी श्रीकृष्ण का जन्म हुआ। इन दोनों महात्माओं में प्रथम ने संसार से विरक्त होकर, संसार को त्याग, अहिंसा, विश्वप्रेम और साम्यवाद का पाठ पढ़ाया और द्वितीय ने अकर्मण्य पुरुषों को कर्मवीर और स्वावलम्बी बनाया, उनके हृदय में थोथे धार्मिक अन्धविश्वास हटाकर वीरता का संचार किया। प्रथम ने अपने पवित्र उद्देश्यों की पूर्ति में अनेक विघ्न-बाधाओं का सहर्ष स्वागत करते हुये अनेक बार सहन किये, तो द्वितीय ने निर्बल और असहायों के सताने वालों को उचित शिक्षा दी।

महाभारत समाप्त होने पर भारत की बागडोर पाण्डवों ने हाथ में ली, और उनके राज्य छोड़ कर चले जाने पर अर्जुन का पौत्र, अभिमन्यु का पुत्र परीक्षित—जोकि महाभारत युद्ध जिस रोज समाप्त हुआ, ठीक उसी दिन

पाण्डवों के उत्तराधिकारी

उसकी रानी उत्तरा के गर्भ से जन्मा था—राज्यारूढ़ हुआ। किन्तु यह निशक्त होने के कारण गान्धार देश के नागों द्वारा मार डाला गया। परीक्षित के बाद जनमेजय, शतानीक अश्वमेघदत्त, अधिसीमकृष्ण उत्तरोत्तर राज्यासीन हुये। अधिसीमकृष्ण का समकालीन अयोध्या का राजा दिवाकर और मगध का राजा सेनाजित था। इनके बाद भारत में १२ राजवंश जारी रहे। पांचवीं शताब्दी ई० पू०के अन्तमें इन सब राज्यों की समाप्ति हुई। अधिसीमकृष्ण के बेटे निचक्षु के राज्य में अकाल पड़जाने और गंगा की बाढ़ से हस्तिनागपुर के बह जाने से कुरुलोगों की एक बड़ी संख्या राजा निचक्षु के साथ कोशाम्बी में जा बसी और वहीं दक्षिण के पांचाल भी आगये, इस प्रकार वह सम्मिलित जन, तब से कुरु पांचाल कहलाने लगा।

निचक्षु के बाद अनेक पीढ़ियों तक राजनैतिक-इतिहास कुछ महत्वपूर्ण उपलब्ध नहीं होता। नेमिनाथ और कृष्ण के उपदेशों के कारण महाभारतके बाद हज़ारों वर्ष तक यहां धर्म का साम्राज्य रहा। लोग सुख शान्ति से जीवन व्यतीत करने लगे, उत्तरोत्तर लौकिक और धार्मिक उन्नति हो रही थी, किन्तु फिर विश्रृङ्खलता आगयी, यह अब से लगभग ३००० वर्ष पूर्व की बात है। इन्हीं दिनों एक और महान् आत्मा के अवतीर्ण होने से एक दो नये विचारों का आर्यावर्त के धार्मिक जीवन में

पार्श्वनाथ

उदय हो गया था। श्रीजयचन्द्र विद्यालङ्कार लिखते हैं:— वे विचार ये थे कि, मनुष्य अपने कर्म का फल अवश्य पाता है, सत्य, सुकृत और सदाचरण ही सब से बड़ा धर्म है और निष्काम भाव से भलाई करना मानव जीवन का परम लक्ष है। सत्कर्म और सदाचरण की जो ऐसी महिमा मानली गयी, सो सुधार की एक लम्बी लहर का परिणाम् था, जिसमें, प्रत्येक सुधारकों के प्रयत्न सम्मलित थे। वसुचैद्योपरिचर के समय शायद पहले-पहल सुधार की वह लहर उठी थी, उपनिषिद् युग में पुष्ट हुई, और बाद में भी कई सुधारकों की चेष्टाओं से आगे बढ़ती रही। तीर्थंकर पार्श्व नाम का इस प्रकार का एक बड़ा सुधारक नौवीं-आठवीं शताब्दी ई० पू० में हुआ। उसका पिता वाराणसी का राजा अश्वसेन था, और उसकी माता का नाम वामा था। पार्श्व की मुख्य शिक्षायें अहिंसा, सत्य, अस्तेय ब्रह्मचर्य्य और अपरिग्रह थी"*।

---

* जैनों का मत है कि जैन-धर्म बहुत प्राचीन है और महावीर से पहले २३ तीर्थंकर हो चुके है, जो उस धर्म के प्रवर्तक और प्रचारक थे। सबसे पहला तीर्थंकर राजा ऋषभदेव था। जिसके एक पुत्र भरत के नाम से इस देश का नाम भारतवर्ष हुआ। इसी प्रकार बौद्ध लोग बुद्ध से पहले अनेक

टाडसाहब का कथन है कि, इस धर्मवीर के क्रान्तकारी विचारों से घबड़ाकर रूढ़िपन्थियों ने अपने मत की रक्षा के लिये अग्निवंश (१ परमार २ परिहार ३ सोलंकी, चालुक्य, ४ चौहान)

बोधिसत्वों को हुआ बतलाते है। इस विश्वास को एक दम मिथ्या और निर्मूल तथा सब पुराने तीर्थंकरों और बोधिसत्वोंको कल्पित, अनैतिहासिक व्यक्ति मानना ठीक नहीं है, इस विश्वासमें कुछ भी असंगत नहीं है। जब धर्म शब्द को संकीर्ण पन्थ या सम्प्रदाय के अर्थ में ले लिया जाता है, और यह बाज़ारू विचार मन में रक्खा जाता है, कि पहले "हिन्दू-धर्म" "ब्राह्मणधर्म" या "सनातन धर्म" था, फिर "बौद्ध" और "जैनधर्म" पैदा हुये, तभी वह विश्वास असंगत दीखने लगता हैं। यदि आधुनिक हिन्दुओं के आचार व्यवहार और विश्वास को हिन्दु-धर्म कहा जाता है, तो यह कहना होगा कि बुद्ध और महावीर से पहले भारत वासियों का धर्म, हिन्दु-धर्म न था। वह हिन्दु, बौद्ध और जैन सभी मार्गों का पूर्वज था। यदि उस काल के धर्म को वैदिक कहा जाय, तो भी यह विचार ठीक नहीं कि उस में बौद्ध और जैन मार्गों के बीज न थे। भारतवर्ष का पहला इतिहास बौद्धों और जैनों का भी वैसा ही है, जैसा कि वेद का नाम लेनेवालों का। उस इतिहासमें आरम्भिक बौद्धों और जैनों को जिन महापुरुषों के जीवन और विचार अपने चरित्र सम्बन्धी आदर्शों के अनुकूल दीखे, उन सब को उन्होंने महत्व

राजपूतों की उत्पत्ति की ※ किन्तु श्री ओझाजी इन राजपूतों को चन्द्रवंशी प्रमाणित करते हैं।

दिया। और महावीर और बुद्ध के पूर्ववर्त्तों को बौद्धिसत्त्व और तीर्थंकर कहा, जो वास्तवमें उन धर्मों अर्थात् आचरण सिद्धान्तोंके प्रचारक या जीवन में निर्वाहक थे। जिन पर बाद में बौद्ध और जैन मार्गों में चल दिया गया और जो बाद में बौद्ध, जैन सिद्धान्त कहलाये। वे सब बोधिसत्त्व और तीर्थंकर भारतीय इतिहास के पहले महापुरुष रहे हों, या उनमें से कुछ अंशतः कल्पित रहे हों। पर इतने पूर्वज महापुरुषों की सत्ता पर विश्वास होना, यह सिद्ध करता है कि भारतवर्ष का इतिहास उस समय भी काफ़ी पुराना हो चुका था। और उसमें विशेष आचार मार्ग स्थापित हो चुके थे। फ़िलहाल तीर्थंकर पार्श्व की ऐतिहासिक सत्ता आधुनिक आलोचकों ने स्वीकार की है। बाक़ी तीर्थंकरों और बोधिसत्वों के वृत्तान्त कल्पित कहानियों में इतने उलझ गये हैं कि उनका पुनरुद्धार नहीं हो पाया। किन्तु इस बात के निश्चिन्त प्रमाण हैं, कि वैदिक से भिन्न मार्ग, बुद्ध और महावीर से पहले भी भारतवर्ष में थे। अर्हत् लोग बुद्ध से पहले भी थे। और उनके चैत्य भी बुद्ध से पहले थे, उन अर्हतों और चैत्यों के अनुयायी व्रात्य कहलाते थे। जिनका उल्लेख अथर्ववेद में भी है। (भारतीत इतिहास की रूपरेखा प्रथम जिल्द पृ० ३४८-४६)

※ टाडराजस्थान प्रथम भाग पृ०४३।

पार्श्वनाथ के २०० वर्ष बाद फिर यहाँ अधर्म का साम्राज्य होगया। अर्थात् अब से २५०० वर्ष पूर्व, भारत का वातावरण बहुत ही क्षुब्ध एवं संत्रस्त हो रहा था। समस्त संसार में त्राहि-त्राहि मची हुई थी, कोई किसी के दुःख सुख की बात पूछने वाला नहीं था। सभी अपनी स्वार्थ—सिद्धि की धुन में मस्त थे, स्वर्गीय सुखों के कल्पित स्वप्नों ने उन्हें मतवाला बना दिया था; जिस प्रकार भी होसके मनोवांछित कामना पूर्ण करना उस समय के मनुष्य-समाज का मुख्योद्देश्य बन चुका था। ऐसे समय में मक्कारों की बन आई थी, स्वर्गीय सुखों की लालसा दे-देकर भोले जीवों की तृष्णा और भी बढ़ा दी थी। इन लोगों ने अपनी ऐय्यारी में कुछ भी कसर नहीं रक्खी थी, ये लोग झूंठे बढ़ावे दे-देकरके व्यभिचार और जीव-हिंसा का उपदेश वेद-वाक्य बताकर खुल्लमखुल्ला धर्म के ठेकेदार बन बैठे थे, मनुष्य समाज इनके इशारे पर नाचने लगा था। संसार में कोई भी ऐसा वीभत्स कार्य नहीं था, जो इन धर्मध्वज ढोंगियों द्वारा नहीं कराया गया हो। इनके उपदेश से देवी-देवताओं के सम्मुख गूंगे, मूक पशु निर्दयता पूर्वक बलिदान किये जाते थे, स्वर्गों की तृष्णा से घोर आक्रन्दन करते हुये भी, यज्ञों में स्वाहा कर दिये जाते थे, जिनके रक्त से कलकल करती हुई भारतवर्ष में नदियाँ बहने लगी थीं।

महावीर बुद्ध-कालीन धार्मिक-व्यवस्था

मूक पशुओं के चीत्कार से आसमान कम्पित होने लगा था, इन धर्म-पोपों के भार से पृथ्वी दहल उठी थी, इनके अत्याचारों से मनुष्य तो क्या, देव भी विचलित हो उठे थे। पशु, अबला, निर्बल, शूद्र, साधु-महात्मा सभी अपनी सर्द आहों से न्याय की प्रार्थना कर रहे थे। तब ऐसे संकट के समय में एक महान् आत्मा का जन्म हुआ। तीनों लोक आनन्द से विह्वल हो उठे, क्षण भर के लिये नर्क में स्वर्गानन्द छागया, किन्तु स्वार्थियों के स्वार्थों पर पाला पड़ गया। इसमें आश्चर्य की बात ही क्या है? जो सूर्य प्राणीमात्र को प्रकाश पहुँचाता है, वही सूर्य उलूक के लिये दुःख स्वरूप होता है। जो चन्द्रमा थके हुये बटोही, पशु, पक्षी, सभी को सुखदाई होता है, वही चकवा चकवी के विरह-यन्त्रणा का कारण होता है। नियम है कि जब संसार में अत्याचार विशेष बढ़ जाते हैं, स्वार्थान्ध जुल्मो-सितम करने से नहीं चूकते। सज्जनों एवं साधुओं का जीवन संकटमय बन जाता है, तब ऐसे समय में किसी विशेष शक्ति का जन्म होता है। अतः इस महान् आत्मा ने ३० वर्ष की ही अवस्था में राज्यपाट छोड़ कर वैराग्य ले लियो। सांसारिक सुख कुछ कम नहीं था। किन्तु जिसे प्राणीमात्र के परोपकार की लगन थी, वह क्योंकर इन विभूतियों में फंस सकता था? संसार के प्रलोभनों को लात मार कर उसने अपने यथा-नाम-तथा-गुण का परिचय दिया। जिसके लिये समस्त संसार इच्छुक था, वह समय निकट आया देख, संसार के समस्त प्राणी उपदेशामृत पान करने के लिये उतावले हो उठे।

धर्म-ढोंगियों ने अपने स्वार्थ में विघ्न पड़ता देख, अनेक उपद्रव किये; परन्तु किसी की कुछ न चली। यह महात्मा सब पर समान दृष्टि रखते थे। सभी के कल्याण करने की इनके हृदय में उत्कट अभिलाषा थी। प्रथम बारह वर्ष दुद्धर तप करके उन्होंने अपनी आत्मा को और भी बलवान बनाया, क्योंकि जो महानुभाव जिस विषय का सुधार करना चाहते हैं, वह स्वयं जैसा कि वह कहते हैं, उस नियम का पालन करें तो, संसार के बहुत बड़े भाग का सुधार हो सकता है। क्योंकि उनके आदर्श चारित्र को देख कर लोग उनके अनुयायी हो सकते हैं। किन्तु इसके विपरीत जब स्वयम् उपदेश देने वाले के मन में विश्वास (श्रद्धान) और भक्ति न होवे तो वह चाहे जितना चीखे चिल्लावे, गला फाड़फाड़ कर उपदेश दिया करे, फिर भी किसी पर उसके उपदेश का प्रभाव नहीं पड़ता।

जिस उपदेशक का अपने सिद्धान्त पर अटल विश्वासहै, और जो स्वयम् अपने सिद्धान्त पर चलता है, जिसे अपने सिद्धान्त से पूरी लगन है; उसकी बातों में, उसके उपदेश में जादू का असर होता है। वही उपदेशक श्रोतागणों के हृदय-पटल पर अपने विश्वास की तस्वीर अङ्कित कर सकता है, क्या मजाल कि उसकी बात का असर न हो। यह माना कि वह महान् आत्मा सामान्य मनुष्य न थे। किंतु जिस मार्ग को उन्हें फिर से बोध कराना था, भूले हुये पथिकों को जिस राह पर लाना था, उस मार्ग का स्वयम् अनुकरण करके परीक्षा करना उन्होंने अपना प्रधान कर्तव्य

समझा। इस घोर तपश्चर्य्या के फलस्वरूप उन्हें केवल-ज्ञान की प्राप्ति हुई। संसार के समस्त पदार्थ उन्हें अपने निर्मल ज्ञान में दर्पण के समान प्रत्यक्ष दीखने लगे। उन्होंने कितने ही स्थानों में भ्रमण करके संसार को विपरीत मार्ग से हटा कर अपने उपदेश से सन्मार्ग पर चलाया। सभा में ऊंच-नीच का भेद न था। सभी एक दूसरे के विरोधी, वैरभाव त्याग कर सप्रेम सम्मिलित होतेथे, सभी को इनके उपदेशामृत पान करने का पूर्ण अधिकार था। कितने ही मिथ्यात्वी मारे अभिमान के शास्त्रार्थ तक करने के लिये आये, किंतु दर्शन करते ही उनका गर्व खर्व हो गया। सभी आपके अनुयायी बन गये।

जिस मार्ग पर चलने का उन्होंने उपदेश दिया वह मार्ग प्राणी-मात्र का कल्याणकारी मार्ग था। उनके उपदेश का भाव था:—

"संसारके समस्त प्राणी सुख चाहतेहैं, कोई भी दुख का स्वप्न देखना नहीं चाहता। किन्तु संसारमें सुख शांति मिलना असम्भव है। यहां सुख की खोज करना बालू रेत में से तेल निकालना है, चाहे जितने प्रयत्न किये जाँय, सब निष्फल होंगे। यदि संसार में ही सुख होता तो क्यों बड़े २ चक्रवर्त्ती अपनी राज्यविभूतियों को छोड़ कर बनों की खाक छानते? सांन्सारिक सम्बन्धोंमें जो सुख मान लियाहै, वह वास्तवमें धोके की टट्टीहै। शहद लपेटी हुई तलवारहै। इष्ट-वियोग, अनिष्ट-योग, निर्धनता, निर्बलता, अपमान, कपूत पुत्र, विधवा पुत्री, निःसन्तान पुत्रवधू, व्यभिचारिणी स्त्री, कुल में कलङ्क का होना इत्यादि दुःख ही दुःख हैं। संसार के

सभी मनुष्य इनमें से एक न एक दुख से दुखी हैं। पशुओं का तो कहना ही क्या? इन सब दुखों से घबड़ा कर यह प्राणी सच्चे सुख की तरफ दौड़ता है। सुख और दुख हैं क्या वस्तु? जीवके हृदय में किसी प्रकार की भी आकुलता, चिंता, इच्छाका रहना ही दुख है, यह प्राणी के हृदय में शल्य (कांटे) की तरह चुभा करती है। किसी प्रकार की चिन्ता का न रहना ही सच्चा सुख है। यह चिंता क्योंकर मिट सकती है, ऐसा रम्य स्थान कौनसा है जहाँ पर चिंता, एवम् आकुलता नहीं? चिंता मोक्ष में नहीं है। यह जीव मोक्ष प्राप्त करने पर ही इस व्याधि से पीछा छुड़ा सकता है, अन्यथा नहीं। जीवन-मरण के झंझटों से छुटकारे का नाम ही मोक्ष है।

"क्या कभी तुमने इस जीवन-मरण के दुखों को अनुभव करके एकांत स्थान में बैठ कर कुछ सोचने का यत्न किया है? प्रथम ही इस जीव को माता के गर्भ में नव मास हलन-चलन-क्रिया रहित अंगों के संकोच, भूख-प्यास आदि की अकथनीय वेदना सहन करके अधोमुख रहना पड़ा और उल्टा, सिर के बल, माता के गर्भ से पृथ्वी पर गिरा; जन्म के समय दाई वगैरह के उपचारों द्वारा कितनी असह्य वेदना होती है, यह स्वयं वह अज्ञान बालक ही रो करके बतला देताहै।

"अब मृत्यु का दुख तो ऐसा है कि कोई कितने ही कष्ट में क्यों न हो, वह मरना नहीं चाहता। क्या राजा,क्या रंक,क्या शेर, क्या बकरी, क्या निर्धन, क्या धनवान, क्या अन्धा, क्या कोढ़ी,

क्या स्त्री, क्या पुरुष सभी मृत्यु से कोसां भागते हैं। जान की रक्षा लिये मनुष्य सब कुछ त्याग देता है। अछूत रोगों से प्राण बचाने के लिये मनुष्य धन, दौलत, स्त्री, पुत्र, भाई-बन्धु सब को त्याग कर देता है। बीमार मनुष्य आंख फाड़ २ करके चारों तरफ देखता है; चीख मारता है; हृदय दहला देने वाला रुदन करता है—"हाय मैं मरा ! हाय मैं मरा !! मुझे बचाओ"। किन्तु कोई भी उसके इस दुख को बांटने वाला नहीं मिलता। इसी प्रकार पशु भी कितने ही दुखी क्यों न हों वह भी मरना पसन्द नहीं करते।

"एक बैल जिसके कन्धे में घाव हो गये हैं, जुए के भार से जिसके गर्दन की खाल उथल-पुथल हो गई है, कीड़ों के पड़ जाने से कौए उसे ठेंगे मार मारकर और भी दुखी कर रहे हैं, उस पर भी ज्येष्ठ की तेज दुपहरी और गाड़ी के अधिक भार से मारे गर्मी और प्यास के जीभ सूख कर तालू से लग गई है, मारे भूख के आंखों में प्राण आ चुके हैं, उस पर भी गाड़ीवान के चाबुक ने तथा उसकी लकड़ी में लगी हुई कील ने उसे और भी अधमरा कर दिया है। किन्तु वही बैल बूचड़ खाने में क़साई की तेज छुरी के सामने प्राणों के भय से पीछे को हटता है, डकराता है, कांपता है, आशाभरी दृष्टि से क़साई की तरफ दया की भीख मांगता है, यह सब क्यों ? मालूम होता है कि मरने में इससे भी कहीं अधिक दुख है। सभी जीवित रहना चाहते हैं। मरते समय जीव को लाखों बिच्छुओं के काटने से भी अधिक वेदना होती

है। शरीर के एक भी रुंए के खींचने में कैसी असह्य वेदना होती है, किसी से छुपी नहीं।

"यदि कोई मनुष्य डाकुओं द्वारा सताया जाता है, उसके स्त्री बच्चों का वध किया जाता है, तब उस समय वह कैसी कातर दृष्टि से चारों तरफ अपने रक्षकों को खोजता है। उस समय उसे कितना दुख होता है—यह बताने की आवश्यक्ता नहीं।

"मनुष्यकी सहायतार्थ तो सैकड़ों मनुष्य व राज-कर्मचारी आ भी जाते हैं, किन्तु जब किसी झाड़ी के अन्दर खड़ी हुई हिरनी, जो कि अपने बच्चे को दूध पिला रही है, उसे गुलेल मार कर जब धराशाई कर दिया जाता है, तब वह हिरनी पुत्र-मोह से आर्तनाद करके फड़फड़ाती है; तब उसकी सहायता को कौन आता है? जब आप गर्मियों में लू की तपिश से बचने के लिये खस की टट्टी लगा कर मकान के तहखाने में आराम से सोते हैं तब तुम्हारे ही जैसा मनुष्य पेट की खातिर धूपमें बैठ कर पंखा खींचता है। यदि कभी गरीब को दुर्भाग्य से झपकी आ जाती है, तब उस समय तुम्हें वह अल्प समय का पंखा बन्द होना कैसा असह्य हो जाता है, तब आप आपे से बाहर होकर अपनी ठोकरों से उसे लहूलुहान कर देते हैं, परन्तु फिर भी वह ग़रीब दूसरे दिन सेवा में उपस्थित हो जाता है। शहद की मक्खियाँ अत्यन्त परिश्रम करके चांदनी रात में फलों से शहद बना करके अन्धेरी रात के लिये जोड़ती हैं, शहद-लोलुपी मनुष्य किंचित् स्वाद के लिये मधु-मक्खियों को नष्ट कर देता है।

बहुत से अपने जी बहलाव के लिये—तोता, मैना, कबूतर, कोयल, बुलबुल, शेर इत्यादि को पकड़ कर पिंजरों में बन्द रख कर अपने घरों की शोभा बढ़ाते हैं। क्या कभी इनके दुःखों पर किसी का ध्यान आकर्षित हुआ है। वास्तव में संसार स्वार्थ में अन्धा हो गया है, मनुष्य को अपने भले बुरे का ज्ञान नहीं रहा है।

"जब कोई राज्यकर्मचारी अथवा बलवान मनुष्य तुम्हें मार्ग चलते हुए को ठोकर मार देता है, तब तुम्हें उसके ऊपर कितना क्रोध आता है। फिर जो मनुष्य मार्ग चलते हुये चींटियों को कुचल डालते हैं, गर्म पानी डाल कर खटमलों और जुओं को मार देते हैं, क्या कभी उन्होंने इन छोटे २ प्राणियों के दुख को समझने की कोशिश की है?

"क्या कभी किसी को सांप ने काटा है? क्या कभी किसी के घर में आग लगी है? क्या कभी किसी का पुत्र फांसी पर चढा है? क्या कभी किसी को कारागृह देखने का दुर्भाग्य प्राप्त हुआ है? यदि हुआ है, तो सोचो उस समय अपनी अवस्था कैसी थी। तब हड्डी पसली कैसी हिलतीथी, समस्त संसार तुम्हारे लिये अन्धकारमय था। तुम किस कातर दृष्टि से अपने बचाव की ओर देखते थे?

"कोई तुम्हें "तू मरजा" ऐसी गाली देताहैतो तुम्हारे क्रोधका पारा आखिरी डिगरी पर पहुंच जाता है; तब जो वास्तवमें निरपराध हैं, गूंगेमूक पशुहैं उन्हें मारने में कितनी असह्य वेदना होती होगी? यह आप स्वयं अनुमान करलें। जो भोले जीव स्वर्गों की लालसा

से यज्ञों में पशुओं को स्वाहा कर देते हैं, अथवा देवी देवताओं के सम्मुख निर्दयता पूर्वक बलिदान कर देते हैं, उन्हें सोचना चाहिये कि जैसे प्राण हमारे हैं, जितना कि दुख हमें होता है, उतना ही छोटे से छोटे और बड़े से बड़े जीव को होता है। आत्मा तो सबकी ही समान है। सब अपने २ कर्मानुसार किये का फलभोगते हैं। जिस तरह स्वर्गों की प्राप्ति तथा देवी-देवताओं को प्रसन्न करने की इच्छा से तुम दूसरे का वध करते हो, यदि कोई तुम्हें ही वध करने पर उतारू होजाय, तब तुम्हारी क्या अस्वथो होगी ?

"जो स्वयम् सुखी रहना चाहते हैं, वह प्रथम दूसरों को सुखी रहने का प्रयत्न करें तभी सुखी हो सकते हैं। जो संसार में अपना आदर चाहते हैं, वह दूसरों का आदर करें तब कहीं उन्हें सफलता प्राप्त होगी। जो मनुष्य अपने सुख के लिये दूसरों को दुख देता है, वह क्या कभी सच्चा सुख प्राप्त कर सकता है ? हाय ! कितने ही निर्दई अपने ऊपर से तथा बच्चों के निमित्त बकरे, सूअर, मुर्गे सदके करके मरवा डालते हैं। उन्हें क्या मालूम कि उन पशुओं के माता पिता उन्हें कैसा शाप देते होंगे ?

"जो राजा अपनी प्रजा को सताता है, अपनी विषयवासनाओं की तृप्ति के लिये सर्वसाधारण की जान की कुछ भी परवाह नहीं करता वह राजा नष्ट हो जाता है। सारी प्रजा उसकी दुश्मन बन जाती है। तब जो सर्वसाधारण विचारे असहाय प्राणियों को सताते अथवा मारते हैं, उनका सत्यानाश हो जाय तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ?

"यदि वास्तव में तुम्हें सुख को इच्छा है, तो प्राणी मात्र का स्वप्न में भी अहित न चाहो, क्योंकि सभी जीवों को अपने प्राण प्यारे हैं। कोई भी इस जीवन-मरण के चक्र रूपी संकट में नहीं पड़ना चाहता। इस आगमन से छुटकारे का ही नाम मोक्ष है, अथवा सच्चा सुख है। मोक्ष प्राप्त करने के लिये सम्यक् दर्शन (विश्वास,यक़ीन) सम्यक्ज्ञान(विवेक,इल्म)सम्यक् चारित्रसदाचर,) अमल) की आवश्यकता है। अर्थात् जिसमार्ग परहमें चलना है, प्रथमउसकाहमें विश्वास होनाअत्यावश्यकहै। इसके पश्चात् विवेक बुद्धि की आवश्यकता है। जिस मार्ग पर,धर्म पर, हमारा विश्वास है वह मार्ग कैसा है ? अन्धविश्वास की आवश्यकता नहीं। भले प्रकार विचार करके कार्य करना चाहिये। तत्पश्चात जैसी भी आपकी विवेक बुद्धि काम दे, कर्तव्य पालन करना चाहिये। "अवश्यमेव भोक्तव्यम् कृतम् कर्म शुभाशुभम्" अर्थात् जैसा यह जीव कर्म करता है, वैसा ही इसे फल भोगना पड़ता है, कर्मों का चक्र सदैव घूमता रहता है।

"इसलिये सावधानता पूर्वक अपने चारित्र का पालन करो। प्रथम मोक्ष प्राप्ति के लिये गृहस्थ में रहकर १२ अणुव्रतों का पालन करो, अर्थात हिंसा, झूठ, चोरी,कुशील परिग्रहके छोड़नेका धीरे धीरे अभ्यास करो, सेवा धर्म और विश्वप्रेम का पाठ पढ़ो। इसके पश्चात् ग्रहस्थ त्याग कर निर्ग्रन्थ त्यागी बनकर महाव्रतों का पालन करते हुये संसार का उद्धार करो"।

जिसने ऐसे संकट के समयमें जन्म लिया, जिसने विश्वोद्धार

करने के लिये समस्त संसार के सुखों पर लात मार दी, प्राणी मात्र के कल्याण के लिये जिसने भयानक जंगलों की खाक छानी, सोते बैठते विश्वोद्धार करने की जिसके हृदय में प्रबल इच्छा थी, जिसने यज्ञों में होनेवाली पशुयज्ञ की भयानक प्रथा को जड़मूल से उखाड़ फैंका, वह महान आत्मा कौन थी? प्राणीमात्र के कल्याणकारी अहिंसा धर्म का उपदेश किसने दिया? सत्यवादी और ब्रह्मचारी हमको किसने बनाया? विश्वप्रेम, परोकार, पतितोद्धार जैसे आदर्श मार्ग पर चलना हमें किसने सिखाया? भूले भटके पथिकों के हृदय में उत्साह व प्रेम का श्रोत किसने बहाया? जिसने फिर से देश के लिये अथवा सेवा मार्गमें, सर्वस्व त्याग का महान मंत्र हमारे हृदय पर अंकित किया वह वीर कौन था?

सत्य धर्म का डंका विश्व भर में किसने बजाया? समस्त संसार के झगड़ों से जिसने विजय प्राप्ति की, वह महान आत्मा, वह आदर्श त्यागी कौन था?

यह वर्द्धमान थे। इन्होंने चैत्र सुदी १३ को वैशाली के निकट कुण्डलपुर के अधीश्वर सिद्धार्थ राजा की पटरानी त्रिशला के उदर से जन्म लिया और तीस वर्ष की युवावस्था में वैराग्य लेकर नग्न होकर १२ वर्ष तक घोर दुद्धर तप किया। अनुमानतः ४२ वर्ष की अवस्था में केवल ज्ञान प्राप्त करके ३० वर्ष तक संसार को उपदेश दिया और कार्तिकी अमावस्या को निर्वाण पद प्राप्त किया। जबतक यह संसार स्थितहै, इनके अहिंसा धर्मकी छाप हमारे

हृदयोंमें अँकित रहेगी। कोई भी इनके उस अनुग्रह से उऋण न हो सकेगा, यह चौवीसवीं महान् आत्मा थी। इनके नाम संसार में महावीर, सन्मति, अतिवीर, और वर्द्धमान विशेष प्रसिद्ध हैं।

विश्व-कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने महावीर की इस विजय पर लिखा है कि—"महावीर ने भारत में ऐसा सन्देश फैलाया कि धर्म केवल सामाजिक रूढ़ि नहीं, किन्तु वास्तविक सत्य है। मोक्ष वाहिरी क्रिया काण्ड के पालन से नहीं, किन्तु सत्य-धर्म का आश्रय लेने से मिलता है। धर्म में मनुष्य मनुष्य के प्रति कोई स्थायी भेद भाव नहीं रख सकता। कहते हुये आश्चर्य होता है, कि महावीर की इस शिक्षा ने समाज के हृदय में जड़ जमाकर वैठी हुई इस भेद भावना को वहुत शीघ्र नष्ट कर दिया और सारे देश को अपने वश कर लिया। और अव इस क्षत्रिय उपदेशक के प्रभाव ने ब्राह्मणों की सत्ता को पूर्ण रूप से दवा दिया है"*। भगवान् महावीर के समकालीन ही महात्मा वुद्ध हुये हैं।

---

* "अहिंसा परमोधर्मः" इस उदार सिद्धान्त ने ब्राह्मण धर्म पर चिरस्मरणीय छाप (मोहर) मारी है। यज्ञ-यागादिकों में पशुओं का वध होकर जो "यज्ञार्थ पशु-हिंसा" आजकल नहीं होती है, जैन-धर्म ने यही एक वड़ी भारी छाप ब्राह्मण-धर्म पर मारी है। पूर्व काल में यज्ञ के लिये असंख्य पशु-हिंसा होती थी। इसके प्रमाण मेघदूत काव्य तथा और भी अनेक ग्रन्थों से मिलते हैं। रन्तिदेव नामक राजा ने जो यज्ञ किया था! उसमें इतना प्रचुर पशु-वध हुआ था, कि नदी का जल खून से रक्त वर्ण होगया था

इन दोनों महात्माओं ने भारतवर्ष में अवतीर्ण होकर यहाँ की नैतिक, मानसिक, सामाजिक और धार्मिक दूरावस्थाओं का निराकरण कर समाज के अन्तरगत ऐसी जीवित शान्ति उत्पन्न करदी कि जिसके प्रताप से भारतीय समाज एक बार फिर से उन्नत समाज कहलाने के लायक़ हो गया। इनके उन्नत चरित्र और सद्विचारों का जनता पर इतना दिव्य और स्थायी प्रभाव पड़ा कि जिसके कारण वह भविष्य में भी कई शताब्दियों तक अपना कर्तव्य पालन करती रही। तात्पर्य्य यह है कि इन दोनों महापुरुषों ने अपने व्यक्तित्व के बल से भारत में पुनः स्वर्णयुग उपस्थित कर दिया।

'भगवान् महावीर के समय में भारतवर्ष तीन बड़े भागों में

उसी समय से उस नदी का नाम चर्मण्वती प्रसिद्ध है। पशु-वधसे स्वर्ग मिलता है, इस विषय में उक्त कथा साक्षी है! परन्तु इस घोर हिंसा का ब्राह्मण धर्म से विदाई ले जाने का श्रेय जैनधर्म के हिस्से में है। ब्राह्मण-धर्म में दूसरी त्रुटि यह थी कि चारों वर्णों अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रों को समान अधिकार प्राप्त नहीं था। यज्ञ-यागादिक कर्म केवल ब्राह्मण ही करते थे, क्षत्रिय और वैश्यों को यह अधिकार नहीं था और शूद्र बेचारे तो ऐसे बहुत विषयों में अभागे थे। इस प्रकार मुक्ति-प्राप्त करने की चारों वर्णों में एक सी छुट्टी नहीं थी। जैनधर्म ने इस त्रुटि को भी पूर्ण किया है।

—लोकमान्य तिलक

बंटा हुआ था। उसमें से बीच वाला भाग "मज्झिम देश"

राजनैतिक अवस्था

(मध्यदेश) कहलाता था। मनु-स्मृति के अनुसार हिमालय और विन्ध्याचल के बीच तथा सरस्वती नदी के पूर्व और प्रयाग के पच्छिम वाले प्रान्त को मध्य देश कहते हैं। इस मध्यदेश के उत्तर वाले प्रान्त को "उत्तरापथ" और दक्षिण वाले प्रान्त को "दक्षिणापथ" कहते थे। इन सब प्रान्तों में उस समय भिन्न २ राजा राज्य करते थे। साम्राज्य का कुछ भी संगठन नहीं था, उस समय के प्रसिद्ध राज्यों में से चार राज्यों का विशेप रूप से उल्लेख मिलता है:—

१—**मगध**—इसकी राजधानी राजगृह थी। यही बाद को "पोटलिपुत्र" बनगई। यहां पहले राजा बिम्बसार(श्रेणिक)ने राज्य किया और उसके पश्चात् उसके पुत्र अजातशत्रुने। इस वंश का प्रवर्तक शिशुनाग ❀ नामक एक राजा था। बिम्बसार (श्रेणिक)

❀ इस का राज्यारोहण काल वि० सं० से ५८५ (ई० स० से ६४२) वर्ष पूर्व मांना जाता है। इसके उत्तराधिकारी क्रमशः २ शाकवर्ण ३ क्षेत्रधर्मा ४ क्षत्रौजा ५ बिम्बसार (यह भगवान् महावीर के समकालीन हुआ है, पहले यह बौद्ध था, पीछे यह महावीर का अत्यन्त भक्त होगया था इसको श्रेणिक भी कहतेहैं। इस वंश में सब से प्रतापी राजा यही हुआ है) ६ अजातशत्रु (कुणिक) ७ दर्शक ८ उदायश्च ६ नान्दिवर्द्धन १० महानन्दि हुये। महानन्दि को नन्द ने मारकर वि० सं० पू० ३१५ (ई० स० पू० ३७२) में नन्द वंश की स्थापना की।

इस वंश का पांचवां राजा था, उसने अंगदेश अर्थात् मुंगेर और भागलपुर को जीत कर अपने राज्य में मिला लिया।

२—**कौशल**—इस की राजधानी श्रावस्ती या सावट्ठी थी। बुद्ध के समय यहां पर राजा अग्निदत्त प्रसेनजित राज्य कर रहा था और पीछे बुद्ध के जीवन में ही अग्निदत्त का लड़का विडूडभ राजगद्दी पर बैठा।

३—**वत्स**—इसकी राजधानी कोशाम्बी थी। यहाँ उन दिनों राजा उदयन राज्य कर हा था।

४—**अवन्ती**—इसकी राजधानी उज्जैन थी। यहां राजा प्रद्योत राज्य कर रहा था।

'इन चारों राज्यों में परस्पर संघर्ष जारी रहता था। इधर मगध और कोशल प्रभुता के लिये युद्ध करते थे; और उधर वत्स और अवन्ती। इन चार के अतिरिक्त निम्नांकित छोटी बड़ी बारह राजनैतिक शक्तियां और थीं।

१—**अंगराज्य**—इसकी राजधानी चम्पापुरी—जो आज कल भागलपुर के समीप है—थी।

२—**काशी राज्य**—जिसकी राजधानी बनारस में थी।

३—**वज्जियों का राज्य**—इस राज्य में आठ वंश सम्मलित थे, इनमें सब से बड़े लिच्छवि और विदेह थे। उस समय में यह राज्य प्रजातन्त्रों के सिद्धान्तों पर व्यवस्थित था। इसका

क्षेत्र फल तेईससौ मील के लगभग था। इसकी राजधानी मिथिला थी। प्रसिद्ध कर्मयोगी राजा जनक इसी विदेह वंश के थे।

४—कुशीनारा—और पावा के मल्ल यह दोनों स्वाधीन जातियाँ थीं। इनका प्रदेश पर्वत के अञ्चल में था।

५—चैदि राज्य—इस के दो उपनिवेश थे, पुराना नैपाल में और नवीन पूर्व में कौशाम्बी के समीप था।

६—कुरु राज्य—इसकी राजधानी इन्द्रप्रस्थ थी। इसके पूर्व पांचाल और दक्षिण में मत्स्य जातियां बसती थीं। इतिहासज्ञों की राय में इसका क्षेत्र फल दो सहस्र वर्ग मील था।

७—पाँचाल राज्य—यह दो राज्यों में विभक्त था। इस की राजधानियाँ कन्नोज और कपिला थीं।

८—मत्स्य राज्य-जो कुरु राज्य के दक्षिण में जमुना के पश्चिम में था, इसमें अलवर, जयपुर और भरतपुर के हिस्से शामिल थे।

९—शूरसेनों का राज्य—इसकी राजधानी मथुरामें थी।

१०—अश्मकर राज्य—इसकी राजधानी गोदावरी नदी के तीर पोतन या पोतली में थी।

११—गान्धार—इसकी राज्यधानी तक्षशिला में थी।

१२—काम्बोज राज्य—इसकी राजधानी द्वारिका में थी।

"यह स्मरण रखना चाहिये कि उपरोक्त सोलहही नाम शासक जातियों के थे। पर इन जातियों के नाम से उनके अधीनस्थ देशों के भी यही नाम पड़ गये थे। इन जातियों अथवा राज्यों के ऊपर कोई शक्ति ऐसी न थी जो इन पर अपना आतङ्क जमा सके। अथवा इन सबोंको एकत्रित कर एकछत्र साम्राज्यका संगठन कर सके। ये छोटे छोटे राज्य कभी कभी आपस में लड़ भी पड़ते थे, क्योंकि राजनैतिक स्वन्त्रता के भाव लोगों के अन्तर्गत बहुत फैले हुये थे।

"उस काल में उत्तरीय भारत के अन्तर्गत वहुत से प्रजातंत्र राज्य भी थे। अध्यापक "राइज़ डेविडस" अपनी "बुधिस्ट इण्डिया" नामक पुस्तक में निम्नोकिंत ग्यारह प्रजातन्त्र राज्यों का उल्लेख करते हैं:—

१—**शाक्यों का प्रजातन्त्र राज्य**—जिसकी राजधानी "कपिलवस्तु" में थी।

२—**भग्गों का प्रजातन्त्र राज्य**—जिसकी राजधानी "संसुमार पहाड़ी" थी।

३—**बुल्लियों का प्रजातन्त्र राज्य**—जिसकी राजधानी "अलकप्प" थी।

४—**कोलियों का प्रजातन्त्र राज्य**—जिसकी राजधानी "क़ेशपुञ्ज" थी।

५—कालामों का प्रजातन्त्र राज्य—जिसकी राजधानी "रामग्राम" में थी।

६—मलयों का प्रजातन्त्र राज्य—जिसकी राजधानी "कुशिनगर" थी।

७—मलयों का प्रजातन्त्र राज्य—जिसकी राजधानी "पावा" थी।

८—मलयों का प्रजातन्त्र राज्य—जिसकी राजधानी "काशी" थी।

९—मौर्यों का प्रजातन्त्र राज्य—जिसकी राजधानी "पिप्पलीवन" थी।

१०—विदेहों का प्रजातन्त्रराज्य—जिसकी राजधानी "मिथिला" थी।

११—लिच्छवियोंका प्रजातन्त्र राज्य—जिसकी राजधानी "वैशाली" थी। भगवान् महावीर की माता इसी वंश की कन्यारत्न थीं।

"ये सब प्रजातन्त्र राज्य प्रायः आजकल के गोरखपुर, बस्ती और मुजफ्फरपुर जिले के उत्तर में अर्थात् बिहार प्रान्त में फैले हुए थे। ये जातियाँ प्रजातन्त्र के सिद्धान्तों पर शासन करती थीं। इनकी शासन प्रणाली कई बातों में प्राचीन काल के यूनानी

प्रजातन्त्र राज्यों के सदृश थी। इन प्रजातन्त्र जातियों में से सब से बड़ी शाक्य जाति थी। इस जाति के राज्य की जन-संख्या उस वक्त क़रीब दस लाख थी। उनका देश नेपाल की तराई में पूर्व से पश्चिम को लगभग पचास मील और उत्तर से दक्षिण को क़रीव चालीस मील तक फैला हुआ था। इस राज्य की राजधानी कपिलवस्तु में थी। इस राज्य के शासन का कार्य एक सभा के द्वारा होता था। इस सभा को "संथागार" कहते थे। छोटे और बड़े सब लोग इस सभा में सम्मिलित होकर राज्य के कार्य में भाग लेते थे। "संथागार" एक बड़े भारी सभा-भवन में जुड़ती थी। इस सभा में सब लोग मिल कर एक व्यक्ति को सभापति चुन देते थे। उसी को राजा का सम्मान सूचक पद प्राप्त होता था। उस समय भगवान् बुद्ध के पिता इस सभा के सभापति थे। भगवान् गौतमबुद्ध इसी प्रजातन्त्र के एक नागरिक थे। यहीं पर रह कर उन्होंने स्वाधीनता की शिक्षा भी प्राप्त की थी और इसी प्रजातन्त्र राज्य के आदर्श पर उन्होंने अपने भिक्षु सम्प्रदाय का संगठन भी किया था।

"वज्जियों का प्रजातन्त्र राज्य प्राचीन भारत का एक संयुक्त राज्य था। इस प्रजातन्त्र राज्य में कई जातियाँ सम्मिलित थीं। इस संयुक्त राज्य की राजधानी वैशाली थी। इसकी दो प्रधान जातियाँ विदेह और लिच्छवि नाम की थीं। वज्जी लोग तीन मनुष्यों को चुन कर उनके हाथ में शासन कार्य्य सौंप देते थे। ये तीनों अग्रणी समझे जाते थे। लिच्छवियों की एक महासभा

थी। इस सभा में सब लोग सम्मिलित हो के कार्य में भाग लेते थे, "वराण जातक" और "चुलमकलिंग जातक" नामक बौद्ध-ग्रन्थों में इस महासभा के सदस्यों की संख्या ७७०७ दी गई है। ये लोग महासभा में बैठ कर न सिर्फ़ क़ानून बनाने में राय देते थे, प्रत्युत सेना और आय-व्यय सम्बन्धी सभी बातों की देख भाल करते थे। यह महासभा राज्य-शासन की सहूलियत के निमित्त नौ सभासदों को चुनकर उनकी एक कमेटी बना देती थी। ये नौ सभासद "गणराजन" कहलाते थे। ये लोग समस्त जन-समुदाय के प्रतिनिधि होते थे। "भद्दसाल जातक" नामक बौद्ध-ग्रन्थ में लिखा है, कि इन सभासदों का नियमानुसार जलाभिषेक होता था और तब ये राजा की पदवी से विभूषित किये जाते थे" *।

उक्त चारों (मगध, कौशल, वत्स अवन्ती) राजतन्त्र राज्यों का परस्पर और जन-तंत्र राज्यों के साथ संघर्ष निरन्तर जारी रहता था। एक-दूसरे को निगल जाने की घात में लगा रहता था। निष्प्रयोजन युद्ध हुआ करते थे। ऐसे बेहूदे युद्धों का उल्लेख करना यहाँ व्यर्थ है।

तात्पर्य्य यह है कि भारत की धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक स्थिति तो भगवान् महावीर और महात्मा बुद्ध के अवतीर्ण होने से अत्यन्त अनुकूल होगयी थी, किन्तु राजनैतिक क्षेत्र में भारत एक ऐसे रोग से पीड़ित था, जो उसके लिये अनर्थकारी प्रमाणित हुआ। पिछले पृष्ठों के अवलोकन से प्रमाणित होता है कि यहाँ

---

* श्री चन्द्रराज भण्डारी कृत-भगवान् महावीर, पृ० २१—२६।

पर, अनेक छोटे-बड़े राज्य थे, उनमें आपस में स्पर्द्धा थी। परस्पर मिल कर बैठना और एक विशाल राष्ट्र के अन्तर्गत भारत के शासन की व्यवस्था की जाय, यह किसी ने महसूस भी नहीं किया। भारतवासी सुख-शान्ति की गोद में विश्राम ले रहे थे, आत्मिक चिन्तवन, जीवनमुक्त की तत्व चर्चाओं में वे लीन थे। राजनैतिक एकता के अभाव में वहाँ वालों पर कैसी कैसी आपत्तियाँ टूटती हैं, आक्रमणकारी उनके स्वर्गीय जीवन को किस प्रकार नारकीय-जीवन बना देते हैं ? जिस धर्म को वह प्राणों का मोह छोड़ करभी नहीं छोड़ते, वही धर्म आतताइयों द्वारा क्यों करध्वंस नष्ट किया जाता है, इसका ख़याल उस समयके आध्यात्मिकता की गोद में पले भारतवासी स्वप्न में भी न ला सके, अथवा यूँ-कहिये, इसकी आवश्यकता ही प्रतीत न हुई। या जान बूझकर इस ओर से उपेक्षा रक्खी गयी। किसी ने विशाल राष्ट्र बनाने का प्रयत्न भी किया, तो दुर्भाग्य से वह सफल न हो सका। महावीर बुद्ध के निर्वाण बाद और चन्द्रगुप्त मौर्य के प्रकट होने से पूर्व पारिस्परिक लड़ाइयोंके अलावा, इतिहास के रंगमंच पर क्या हुआ यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। सिकन्दर के आक्रमण के साथ भारतीय-इतिहास के रंगभूमिका पर्दा उठताहै। तब कोशल, वत्स, अवन्ती के राज्य अपना साम्राज्य—विशालराष्ट्र—बनाने में असफल हो चुके थे, केवल मगध-नरेश नन्दवंशीय महापद्मनन्द अपना साम्राज्य स्थापित कर सका था।

इसी अव्यवस्थित समय में उचित अवसर पाकर सिकन्दर

ने ३२७ ई० पू० में भारत पर धावा बोल दिया। सिकंदर बचपन से ही महत्वाकांक्षी, साम्राज्य-स्वप्न देखने वाला था। यूनान

सिकन्दर का आक्रमण

के राज्य-सिंहासन पर बैठते ही वह संसार विजय के लिये निकल पड़ा। मार्ग में अनेक देशों को विजित करता हुआ, वह भारत में भी घुसा चला आया। इसके हमराह कई भारतीय कुलंगार भी अपनी मातृ-भूमि को विजित कराने में साथ हो लिये *। इनमें एक हिन्दुकुश के उत्तर ओर का पहाड़ी राजा शशिगुप्त और तक्षशिला का राजकुमार आम्भि उल्लेख-नीय हैं।

किन्तु जो भारत छोटे २ राज्यों में विभक्त होने के कारण और पारिस्परिक कलह के कारण जर्जिरित हो रहा था, जिसके कई सपूत उसे विजित कराने के लिये सिकन्दर के लाड़ले बन गये थे, वहीं भारत, विजित होना कुछ खेल नहीं था। जहाँ भारत में फूट और वैर फल फूल रहे थे, वहीं देश-प्रेम, धर्म-प्रेम का पवित्र झरना भी अपना कल-कल नाद करता हुआ बह रहा था। जिस काल में यहाँ विदेशियों को घोर अवनति सुझाई पड़ती थी, तब यहाँ घर २ में सुख-शान्ति की वायु चल रही थी। जिसने शशि-गुप्त और आम्भि जैसे सुपूत अपने विनाश के लिये पोषित

---

* भर्‌यौ विभीषण-पुंजतें यह भारत ब्रह्माण्ड।
क्यों न होय ग्रह-भेद तें ग्रह-ग्रह लङ्का काण्ड॥
—वियोगीहरि

किये थे, उसी भारत ने अपनी आन-पर मर मिटने वाले असंख्य वीर-रत्न भी प्रसव किये थे। विजय की आकांक्षा में सिकन्दर भारत में घुस तो आया, किन्तु यहाँ एक के बाद दूसरे और दूसरे के बाद तीसरे, इसी तरह स्थान-स्थान पर उत्तोरत्तर लड़ाकू भारतियों से मोर्चा लेते लेते उसकी नाक में दम आ गया। उसकी सुसंगठित विजयी सैन्य ने तंग आकर आगे बढ़ने से इनकार कर दिया। लूट और उन्नति के अनेक प्रलोभन सिकन्दर ने अपने सैनिकों को दिये, किन्तु सब व्यर्थ। इन उद्‌भट् भारतियों से लड़ते लड़ते उनके शरीर बेकार हो चुके थे। न जाने कितने स्थान पर अभी और युद्ध करना होगा—यह सोचकर उनके दिल टूट चुके थे, हौसले पस्त हो चुके थे, अन्त में लाचार सिकन्दर को पञ्जाब से ही वापिस लौटना पड़ा। भारत के इस छोटे से प्रदेश को विजित करने में सिकन्दर के साढ़े तीन वर्ष व्यतीत हुये।

मौर्यवंश का प्रादुर्भाव

सिकन्दर भारत विजय न करके पंजाब से ही वापिस लौट गया, किन्तु भारतवासियों के हृदय में इक आग सी प्रज्वलित कर गया। जो भारतवासी अपने२ परिमित बल और ऐवश्र्य के आगे अपने को न जाने क्या समझते थे, जो भारतवासी इससेपूर्व कभी विदेशीय शत्रु से अपमानित होनेका मौक़ा न पा सके थे, वही भारतीय सिकन्दर के इस आकस्मिक आक्रमण से गोली खाये हुये मदमाते शेर की तरह भयानक हो उठे। उनके हृदय में इस राष्ट्रीय अप-

मान की टीस उठ खड़ी हुई। वे अब समझे कि जो देश और धर्म हमें प्राण से अधिक प्यारे हैं, उनकी रक्षा बगैर राष्ट्रीय एकता के नहीं हो सकती। अपने इस अपमान का बदला लेने के लिये लोग अधीर हो उठे। आवश्यकता अब ऐसे नेता की थी, जो इन लोगों के क्रांतकारी विचारों से लाभ उठा कर इन सब को एक झण्डे के नीचे एकत्रित कर सके और जिसकी एक आवाज़ पर समस्त राष्ट्र जूझ मरने को उद्यत होजाय। ऐसे ही अवसर पर चन्द्रगुप्त मौर्य ने निर्भय होकर सँगठन का बिगुल फूँक दिया, जिसे लोगों ने सुना और सब उसके झण्डे के नीचे एकत्रित होने लगे। इस युवक ने अपनी वीरता और भारतियों के सहयोग से अल्पकाल में ही सिकन्दर के जीते हुये प्रदेशों को हस्तगत करके विदेशीय विजेताओं को बाहर खदेड़ कर और मगध के महापद्मनन्द को हटा कर ३२२ ई० पू० में एक विशाल साम्राज्य स्थापित कर लिया। इसके साम्राज्य विस्तार का वर्णन करते हुये भारत के प्रथम इतिहास-लेखक विन्सैण्ट ए० स्मिथ ने लिखा है कि :—"दो हज़ार साल से भी अधिक हुये, भारत के इस प्रथम सम्राट् ने उस वैज्ञानिक सीमा को प्राप्त किया था, जिसके लिये उसके ब्रिटिश उत्तराधिकारी व्यर्थ में आहें भरते हैं, और जिसको कि सोलहवीं और सत्रहवीं सदियों के मुग़ल सम्राटों ने भी कभी पूर्णता के साथ प्राप्त नहीं किया था"।

करीब चौबीस वर्ष निष्कण्टक राज्य करते हुये ई०पू० २९८ में चन्द्रगुप्त मौर्य ने जैनधर्मानुसार साधु के व्रत ले लिये, और

उसके सिंहासन पर उसका पुत्र विन्दुसार बैठा। विन्दुसार के स्वर्गासीन होने पर २७२ ई० पू० उसका पुत्र अशोक राज्यारूढ़ हुआ। इसके राज्यासन के सम्बन्ध में काशी-विद्यापीठ के प्रिन्सिपल श्री० नरेन्द्रदेव "अशोक के धर्म-लेख" की भूमिका में लिखते हैं:—

"अशोक का इतिहास भारतीय इतिहास का एक उज्जवल पृष्ट है। अशोक के समय में भारत उन्नति-शिखर पर विराजमान था। देश में शांति विराजती थी। प्रजा सुखी और समृद्ध थी, शिल्पकला और वाणिज्य में अच्छी उन्नति हो चुकी थी। विदेशों से सम्बन्ध स्थापित था। भारतीय धर्म और सभ्यता के प्रसार के लिये, अनेक कष्ट सहकर उपदेशक विदेशों में जाते थे। भारत की राजनैतिक एकता साधित हो चुकी थी। ऐतिहासिक काल में यह पहला ही अवसर था कि भारत में एक वृहत् साम्राज्य का संगठन हुआ था। इसलिये यह काल हम भारतवासियों के लिये बड़े महत्व का है। अशोक के सम्बन्ध में सबसे अधिक महत्व की बात यह है, कि उसने धर्म के प्रचार के लिये जितना उद्योग किया, उतना उद्योग कदाचित ही किसी राजा ने किया हो। विचित्रता यह है कि एक श्रद्धालू और उत्साही बौद्ध होते हुये भी, उसने अपने लेखों द्वारा किसी विशेप धर्म की शिक्षा जन-समाज को नहीं दी। अशोक का धर्म बौद्ध-धर्म नहीं है, वह आर्यों की सामान्य सम्पत्ति है। माता-पिता की शुश्रसा करना, गुरुजनों का सम्मान करना, दास और भृत्यों के साथ सद्-व्यवहार करना

अहिंसा और सत्य का व्रती होना, किस धार्मिक सम्प्रदाय को मान्य नहीं है? अशोक ने अपनी धर्मलिपियों में धर्म की अकथनीय महिमा बतलाई है। सच्चा अनुष्ठान धर्म का अनुष्ठान है, सच्ची यात्रा धर्म-यात्रा है, सच्चा मंगलाचार, धर्म मंगल है। धर्म-दान से बढ़कर कोई दान नहीं है। धर्म-विजय से बढ़ कर कोई धर्म-विजय नहीं है। धर्म की रक्षा तथा वृद्धि के लिये उसने देश विदेश में कर्मचारी नियुक्त किये और प्राणीमात्र के सुख के लिये उचित प्रबन्ध किया। अशोक को धार्मिक आग्रह नहीं था। श्रमण और ब्राह्मण दोनों को वह आदर की दृष्टि से देखता था। धर्मयात्रा में दोनों के दर्शन करता और दोनों को दान देता था। धर्म-सहिष्णुता का अमूल्य उपदेश अशोक ने धर्मलेखों में दिया है। अशोक का कहना है कि "जो सम्प्रदाय की भक्ति में आकर इस विचार से कि मेरे सम्प्रदाय का गौरव बढ़े, अपने सम्प्रदाय की प्रशंसा करता है और अन्य सम्प्रदायों की निन्दा करता है, वह वास्तव में अपने सम्प्रदाय को पूरी हानि पहुंचाता है। यह इसी अनमोल शिक्षा का फल है कि भारत में धार्मिक कलह बहुत कम हुये हैं, विचार स्वातंत्र्य का सिद्धाँत सर्वमान्य हुआ है। भारत अपनी धार्मिक सहिष्णुता के लिये आज भी प्रसिद्ध है और इसका श्रेय विशेष कर अशोक को ही प्राप्त है"।

२७२ ई० पू० अशोक का राज्यकाल समाप्त हुआ और उस के बाद भारत के शासन की बागडोर क्रमशः कुनाल, दशरथ,

सम्प्रति, शालिशुक, देववर्मा, शतधनुष, बृहद्रथ, नामक मौर्य-राजाओं के हाथ में १८४ ई० पू० तक रही ❀।

मौर्य—राज्य-वंश में जैन-धर्म और बौद्ध-धर्म की मान्यता रही। महान सम्राट् चन्द्रगुप्त, उसका पुत्र बिन्दुसार और सम्प्रति प्रसिद्ध जैनधर्मी और अशोक प्रसिद्ध बौद्ध धर्मानुयायी हुये हैं। अन्त के मौर्यराजा कौन २ जैनी और कौन बौद्ध रहे, इसका प्रामाणिक उल्लेख नहीं मिलता। फिर भी ये मौर्य महाराज बेदों के कर्मकाण्ड को नहीं मानते थे और न ब्राह्मणों की जाति को अपने से ऊँचा मानते थे और न अपनी कीर्ति गाथायें उनसे लिखवाते थे और अनीश्वरवादी थे। ऐसा पुरातत्वज्ञों का मत है। अस्तु अन्तिम मौर्यराजा ब्रहद्रथ को ई० पू० १८४ में धोखे से मारकर उसके सेनापति पुष्यमित्र ने मगध का

❀ मौर्य राजाओं का विशेष वृतान्त जानने के लिये, लेखककी मौर्य-साम्राज्य के जैनवीर' नामक पुस्तक देखनी चाहिये। इसमें चन्द्रगुप्त का राज्यारोहण, सेल्युकस का आक्रमण, चन्द्रगुप्त का जीवन वृतांत, मेगस्थनीज का वर्णन,चन्द्रगुप्त की शासन पद्धति, उसका राज्य-त्याग तथा चन्द्रगुप्त का धर्म और उस पर पुरातत्व-विमर्ष-विचक्षणों की सम्मतियाँ, चन्द्रगुप्त के जैनत्व पर श्री सत्येकेतुजी की आपत्तियाँ और उनका समाधान, चन्द्रगुप्त का इतिहास में स्थान, सम्राट् बिन्दुसार सम्राट् सम्प्रति, मौर्य-वंश का राज्यवंश और उसका अंत आदि विषयों पर प्रकाश डाला गया है। पृ० १७३ मूल्य छः आना

राज्य प्राप्त करके सुंगवंश की स्थापना की।

"पुष्यमित्र केवल वैदिक धर्मानुयायी ही नहीं अपितु अपने इष्ट धर्मकी वृद्धिके लिये अन्य धर्म नाशक धर्मान्ध राजा था। नन्द और

सुंगवंशी पुष्यमित्र और उस समय का भारत

मौर्यवंशी राजाओं की तरह अपने मान्य धर्मके पोषण के साथ साथ अन्य धर्मों का उचित सत्कार करने की जगह उसने उनका विनास करना ही ठीक और उचित समझा। अशोक और सम्प्रति सरीखे धार्मिक मौर्य राजाओं की छत्रछाया में फूले-फले बौद्ध और जैन धर्मारामों के लिये पुष्यमित्र प्रचण्ड दावानल रूप साबित हुआ। नन्दकालीन क़ीमती जैन-स्तूपों और बौद्धों के संघारामों (विहारों) का नाश कर हज़ारों बौद्ध भिक्षुओं और जैन निर्ग्रन्थों के वेष इसने जबर्दस्ती उतरवा लिये ॐ।

ॐ महायानिक बौद्धों के "दिव्यावदान" ग्रन्थ के २९ वें अवदान में लिखा है कि पुष्यधर्मा के पुत्र पुष्यमित्र ने अपने मन्त्रियों से पूछा-ऐसा कौन उपाय है जिससे हमारा नाम हो? मन्त्रियों ने कहा-महाराज! आपके वंश में राजा अशोक हुआ ८४००० धर्मराजिका स्थापित करके अपनी कीर्ति अचल की जो जहां तक भगवान् (बुद्ध) का शासन रहेगा, वहाँ तक रहेगी। आप भी ऐसा कीजिये ताकि आपका नाम अमर होजाय। पुष्यमित्र ने कहा—राजा अशोक तो बड़ा था। हमारे लिये कोई दूसरा उपाय है? यह सुनकर उसके एक अश्रद्धावान् ब्राह्मण ने कहा-

"पुष्यमित्र की इस धर्मान्धता के कारण कलिंग-सम्राट् खार-वेल को दो बार मगध पर चढ़ाई करनी पड़ी थी। पहली चढ़ाई उसनें मथुरा से लौटकर की। पुष्यमित्र को योग्य शिक्षा देकर वह लौट गया, पर पुष्यमित्र अपनी धर्मान्धता से बाज़ नहीं आया। चार वर्ष के बाद उसने दोबारा पाटलिपुत्र में धार्मिक विप्लव मचाया। वह साधुओं से कर वसूल करने और कर देने से इनकार करने वाले साधुओं को कैद करके भूखों मारने लगा। जैन-संघ ने किसी तरह इस उत्पात् के समाचार कलिंग के जैन राजा खार-वेल को पहुंचाये, तब वह पुष्यमित्र पर चढ़ आया और अपार हस्ति सेना से कलिंग राज ने पाटलिपुत्र को घेर लिया। पुष्यमित्र विवश हो खारवेल से सन्धि करने को तैयार हुआ। खारवेल ने

देव दो कारणों से नाम अमर होगा × × × राजा पुष्यमित्र चतुरंग सेना को सज्जित करके भगवतशासन का नाश करने की बुद्धि से कर्कुटाराम की ओर गया, पर द्वार पर जाते ही घोर सिंहनाद हुआ, जिससे भयभीत होकर राजा वापिस पाटलिपुत्र को चला आया। दूसरी और तीसरी बार भी यही बात हुई। आखिर में राजा ने भिक्षु और संघ को अपने निकिट बुला कर कहा—मैं बुद्ध शासन का नाश करूंगा। तुम क्या चाहते हो, स्तूप या संघाराम? भिक्षुओं ने (स्तूपों) को ग्रहण किया। पुष्यमित्र संघाराम और भिक्षुओं का नाश करता हुआ शाकल तक पहुंच गया। उसने यह घोषणा करदी कि जो मुझे श्रमण (साधु) का मस्तक देगा, उसको मैं सोने की सौ मुहर दूंगा

इस जैन द्वेषी राजा को चरणोंमें वन्दन करवाके बहु संख्यक धन-रत्न लेकर छोड़ दिया और आइन्दा ऐसा उत्पात होने पर पदच्युत करने की धमकी देकर नन्दके द्वारा लाई हुई जिन मूर्तिको लेके वह अपने देशको लौट गया । खारवेल का देहांत होने पर पुष्यमित्र निरंकुश होकर जैन और बौद्धों पर उसी धर्म विरोधनी नीति को बरतने लगा जो उसने शुरू में अख्तियार की थी । हजारों जैन साधु मगध की परिचित भूमि का त्याग करके विचरने लगे" ।

बड़ी संख्या में सिर देना आरम्भ किया सुनकर वह अर्हत (अर्हत प्रतिमा) का घात करने लगा, पर वहां उसका कोई प्रयत्न सफल नहीं हुआ । सब प्रयत्न छोड़ कर वह कोष्टक में गया । उस समय दंष्ट्राविनाशी यक्ष सोचता है कि, "यह भगवच्छासन का नाश होरहा हैं, पर मैंने यह शिक्षा ग्रहण की हुई है कि मैं किसी का अप्रिय नहीं करूगा" उस यक्ष की पुत्री को कृमीसेन यक्ष याचना करता था, पर उसे पापकर्मी समझ कर वह अपनी पुत्री को नहीं देता था, पर उस समय उसने भगवच्छाशन की रक्षा के निमित्त अपनी पुत्री कृमीसेन को दे दी । पुष्यमित्रको एक बड़े यक्ष की मदद थी, जिससे वह किसीसे मारा नहीं जाता था। दंष्ट्राविनाशी यक्ष पुष्यमित्र सम्बन्धी यक्ष को लेकर पहाड़ों में फिरने को चला गया । उधर कृमीसेन यक्ष ने एक बड़ा पहाड़ लाकर सेना सहित पुष्यमित्र को रोक लिया" ।

(काशी-नागरी प्रचारणी पत्रिका भाग १० और ११ से)

इसी पुष्यमित्र के समय में पतंजलि हुये, उनके "येषांच विरोधः शाश्वतिक इत्यस्यावकाशः श्रमण, ब्राह्मणम्" (२-४-१२ यहाँ पर जिनका साँप और नेवले की तरह शाश्वतिक या नित्य विरोध हो उसका उदाहरण श्रमण ब्राह्मण दिया है ❋) इस सूत्र से भी उक्त घटना का समर्थन होता है । पुष्यमित्र के समय पतंजली के कथनानुसार भारतवर्ष की सीमा उत्तर में हिमालय, दक्षिण में पारियात्र पर्वत, पूर्व में कालकवन पर्वत, तथा पश्चिम में आदर्श पर्वत थी ✲ । परन्तु पारियात्र, कालकवन तथा आदर्श पर्वत कौन से पर्वत हैं, इसका अभी तक कुछ भी पता नहीं चलता ।

पुष्यमित्र के शासन में श्राद्ध, चन्द्र-सूर्य उपासना, तर्पण तीर्थस्थान, मांस-भक्षण ,यज्ञों में पशु बलिदान आदि क्रिया काण्ड प्रचलित होगये थे, केवल ब्राह्मण वध, मद्य-पान पाप समझा जाता था । वर्णव्यवस्था और छूत छात का भेद प्रारम्भ हो गया था । इस समय भारत में नाटक खेलने का भी बड़ा प्रचार था❋ । इसी समय से पुराणों का काल प्रारम्भ होता है ।

मौर्य-साम्राज्य का अन्त करके स्वामिद्रोही पुष्पमित्र ने सुंग-वंश की स्थापना की । इस वंश के १ पुष्यमित्र, २ अग्निमित्र,

---

❋प्रो० चंद्रमणि विद्यालंकार कृत-महर्षि पातंजली और तत्कालीन भारत पृ० ११ ।

✲ ,, ,, ,, पृ० ४६-५० ।

❋ ,, ,, ,, पृ० ६८-६६ ।

३ वसुज्येष्ठ, ४ वसुमित्र, ५ अर्द्रक, ६ पुलिन्दक, ७ घोषवसु, ८ विज्रमित्र ९ भागवत, १० देवभूति ने क्रमशः ११२ वर्ष (ई० पू० १८५ से ई० पू० ७३) तक राज्य किया। जिस प्रकार पुष्यमित्र ने अपने स्वामीको मार कर मौर्यराज्य पर अधिकार कर लिया था, उसी प्रकार उसके वंशज देवभूति को कण्व वंशी मंत्री वसुदेव ने समाप्त कर उसके राज्य पर अपना अधिकार करलिया ❀।

कण्व वंश का उल्लेख तो दूसरे प्रकरणमें किया जायगा। यहाँ प्रथम पुष्यमित्र जैसे बलशाली शक्तिशाली सम्राट् को

कलिङ्ग—चक्रवर्ति खारवेल

पछाड़ने वाले खारवेल का परिचय देना अवश्यक-प्रतीत होता है। मौर्य-सम्राज्य का विनाश होने पर, भारत के विशाल साम्राज्य को हस्तगत करने की अभिलाषा १—मौर्य-सेनापति सुंगवंशीय ब्राह्मण पुष्यमित्र, २ दक्षिणापथका राजा सातवाहनीय ब्राह्मण शातकर्णी, ३ अफगानिस्तान, वाल्हीक यवननरेश दमेत्रिय, और ४ कलिंगाधिपति जैन राजा खारवेल —इन चार राजाओं को हुई। अपने तीनों शक्तिशाली प्रतिद्वन्द्वियों को परास्त करके अन्त में भारत के शासन की बागडोर महामेघवाहन राजा खारवेल के हाथों में आयी।

चक्रवर्ती खारवेल का जन्म (ई०पू० १९७) में चैत्रवंश के तृतीय राजवंश में हुआ था हिन्दू-पुराणों के अनुसार महाभारत

❀ कलियुग नहीं कारि-युग है ये, यहाँ दिन को दे और रात ले।
क्या ख़ूब सौदा नक़्द है इस हाथ दे उस हाथ ले॥
—नजीर

युद्ध के समय से कलिंग का राजवंश चला आता था। महाभारत युद्ध में कौरवों के निमंत्रण पर कलिंगराज श्रुतायु (श्रुतायुद्ध) अपने तीन वीरपुत्रों—भानुमान, केतुमान, और शुक्रदेव—को साथ लेकर ६० हज़ार रथ और १० हज़ार हाथियों समेत ससैन्य वीर-गतिको प्राप्त हुआ था। भीष्म के आगे लड़ने वाले सप्तरथियों में कलिंग-राज अग्रणी था। द्रोणाचार्य के तीखे बाणों से धृष्टद्युम्न को बचाने की नीयत से भीमने द्रोणाचार्य पर एक साथ सात बाण छोड़े। अतः कहीं द्रोणाचार्य्य घायल न होजाँय; इस आशंका से कलिंगराज श्रुतायुद्ध ने आगे बढ़के भीम के प्रहार को रोका, साथ ही अपने साथ युद्ध करने को ललकारा। आखिर कलिंग राजकुमार केतुमान के रणकौशल के आगे भीम की सैन्य न ठहर सकी और उसके पाँव उखड़ गये। थोड़े से सैनिकों के साथ लड़ते हुये भीमके रथके घोड़े शुक्रदेव के बाणों से विन्धकर गिरपड़े तो भीम यमराज के समान गदा लेकर उस पर टूट पड़ा और शुक्रदेव (कलिंगराजकुमार) को यमलोक पहुँचा दिया। अपने पुत्र को काम आया देख कलिंगराज दूने उत्साह से भीम से भिड़ गये, तब भीम ने घबराकर गदा छोड़ तलवार हाथ में ली और भानुमानु को धराशायी कर दिया। कलिंगराज दोनों पुत्रों का मरण देख किञ्चित भी विह्वल न हुये, अपितु अत्यन्त वेग से बाणों का प्रहार करके भीम को ज़मीन सुंघादी तब भीम के सहायक अशोक ने भीम को

प्रथम राजवंश और महाभारत-युद्ध

सम्हाला और जैसे तैसे दूसरा रथ मँगवाकर उसपर सवार कराया। अन्त में बचे हुये अपने एक पुत्र के साथ कलिंगराज वीर-गति को प्राप्त हुये। राजा के मरने पर भी कलिंग सैन्य रणक्षेत्र में डटी रही, और उसने अपनी अपूर्व-वीरता से भीम के छक्के छुड़ा दिये। यहाँ तक कि भीम की रक्षार्थ धृष्टद्युम्न और सात्यकि को भी आना पड़ा। कौरवों की पराजय के साथ २ उनके हिमायती कलिंगों की पराजय भी अवश्यम्भावी थी। फिर भी कलिंग के इस रण-कौशल और साहस की प्रशंसा मुक्त-कण्ठ से शत्रु-पक्ष की ओर से सात्यकि जैसे महारथी ने की थी।

कहते हैं महाभारत से नन्दराजत्वकाल ई० पू० ३२२ तक कलिंग में ३२ राजा इस वंश के राज्य कर चुके थे।

द्वितीय राज वंश का अशोक से युद्ध

साम्राज्य-विस्तार करते हुये नंदवंशी राजा कलिंग जीत कर वहाँ के राजवंशकी पूज्यनीय, ऋषभनाथ (जैनधर्म के प्रथम तीर्थङ्कर) की मूर्ति ले गया था। और तभी से प्रथम एल राजवंश की समाप्ती हुई, किन्तु अन्त के नन्दवंशी राजाओं को दुर्बल देख कलिंग में फिर स्वाधीनता की घोषणा करदी गई। इस स्वाधीनता की घोषणा करने वाला कलिंग का यह द्वितीय एल राजवंश कहलाया। कलिंग के यह राजा एल (एर०, आर्य) कहलाते थे।

इसी द्वितीय एल वंशीय राजा के शासनकाल में

अशोक ने सिंहासन प्राप्त करने के १३ वें वर्ष के अनन्तर ई० पू० १५९ में अपनी सारी शक्ति बटोर कर कलिंग पर आक्रमण कर दिया। कलिंग उस समय भी एक शक्तिशाली राज्य था, उसकी प्रबलता शायद उसके जंगी हाथियों और जहाजों से थी। कलिंग के वीर होने का यही काफ़ी प्रमाण है कि वह नन्दराजाओं से पराधीन होनेपर भी स्वाधीन होगया था। चन्द्रगुप्त मौर्य और उसके पुत्र बिन्दुसार ने समस्त भारत को विजित किया, किन्तु मार्ग में पड़ते हुये भी कलिंग देश को न छेड़ा। कलिंग को छेड़ना सोते सिंह को ललकारना था। अतः वह कतरा कर भारत में मौर्य-साम्राज्य का विस्तार करते रहे। किन्तु-कलिंग वासियों की यह स्वाधीनता, साम्राज्य-लोलुपी अशोक से न देखी गयी, और वह राज्यसिंहासनारूढ़ होने पर १२ वर्ष तक उसको विजित करने की उधेड़बुन में लगा रहा, और अन्त में महान् सामरिक सामग्री संकलित करके अपनी समस्त शक्ति के साथ कलिंग-वासियों को जा ललकारा। कलिंग-वासियों को युद्ध के लिये ललकारना सरल था, किन्तु उनसे लोहा लेना जरा टेढ़ी खीर थी। कलिंगवासी, क्या राजा क्या प्रजा, सदा से स्वाधीनता-प्रिय थे। वे पराधीन होने से मरना श्रेष्ठ समझते थे *। रण-भेरी सुनते ही उन्मत्त हो उठे। कौन

---

* जीवितात्तु पराधीनाज्जीवानां मरणं वरम्।
(पराधीन जीवन से जीवों का मरण अच्छा है—
गुलामी से मौत भली है)

पामर है, जो उनके जीते जी उनकी स्वर्गतुल्य जन्मभूमि पर पाद्-प्रहार कर सकेगा—उनकी स्वाधीन क्रीड़ास्थली पर विचर सकेगा ? सारा कलिंग क्षणमात्र में प्राणों का तुच्छ मोह त्याग कर, इस युद्ध में जूझ मरा। इस महान् युद्ध में स्वाधीनता प्रिय कलिंगवासी एक लाख बन्दी, डेढ़ लाख आहत और इससे भी कहीं अधिक वीरगती को प्राप्त हुये। पर भाग्य इनके प्रतिकूल बहरहा था, सर्वस्व स्वतंत्रता-यज्ञ में आहुत कर दिया, किन्तु स्वतन्त्रता की देवी इन से प्रसन्न न हुई, वह युद्ध में जूझ मरे, किन्तु विजयी न हुये ❀। पर कलिंग-राज स्वाभिमानी था, उसने आत्म-समर्पण अथवा आधीनता स्वीकार करने के बजाय, कलिंग छोड़ जंगलों में रहना उचित समझा। विलासपूर्ण परतन्त्र जीवन से उसने वन में स्वतन्त्र रहना अधिक श्रेयसकर समझा ⊛। पराधीन देश से स्मशान देश अच्छा, यही सोच कर कलिंग राजवंश और उनके साथी जंगलों में जा रहे। मातृ-भूमि छूट जाने पर दिलों पर क्या गुज़रती है, यह वेदना देश से बर्बस निकाले हुये व्यक्तियों

❀ मेरे डूबजाने का बाइस तो पूछो,
किनारे से टकरा गया था सफ़ीना।
—हफ़ीज़

⊛ जौ अधीन तौ छाँड़िये, स्वर्गहुँ विभव विलास।
जौ पै हम स्वाधीन, तौ भलो नरक कौ वास॥
—वियोगीहरि

के सिवाय कौन अनुभव कर सकता है ।

स्वाधीनता-प्रिय कलिंग-वासी मातृ-भूमि से जुदा तो हुये, पर सीने पर पत्थर रख कर ॐ। वह अपना हृदय अपनी

ॐ कलिंग-वासियों जैसा ही अनुकरण उनके १८०० वर्ष बाद राणा प्रताप ने किया था। और इसी तरह का कुछ भिन्न नेदरलैण्ड वालों ने। यथाः—

"स्पेन की सेनाओं ने नेदरलैण्ड के लीडन नगर को घेर रक्खा था .. .. जून का महिना आगया । नागरिकों की कठिनाइयाँ क्षण-क्षण बढ़ने लगीं। साधारण भोज्य पदार्थ तो कभी के खत्म होचुके थे। लोग तेलहन पर गुज़ारा चला रहे थे। जब यह भी खत्म होगया तो लोग बिल्ली कुत्ते और चूहे हड़पने लगे और जब यह भ्रष्ट जानवर भी नष्ट हो गये तो घोड़ों और बैलों के रक्खे हुए चमड़े उबाल उबाल कर खाने लगे। उन्होंने क़ब्रों पर से घास नोंच-नोंच कर खाई। पत्थरों पर जमी हुई काई खायी। गन्देनालों और गोबर के ढेरों में अनाज के कण ढूँढ़ते और कुत्तों की तरह खाने के लिये झगड़ते नज़र आते थे। बच्चे माताओं के भूख से सूखे और मुर्झाये हुये स्तनों पर छटपटा छटपटा कर जानें गँवाते थे। मातायें गोद में बच्चों को लिये हुये मर-मर कर सड़कों पर गिरती थीं। मकानों में कुटुम्ब के कुटुम्ब प्रातःकाल को मरे हुये मिलते थे। महामारी फैली, सात आठ हज़ार मनुष्य देखते-देखते काल के गाल में चले गये। परन्तु इस फ़ाक़ामस्ती और निराशा में लीडन को अपनी स्वतंत्रता का गर्व था। जब शत्रु नागरिकों-

मातृभूमि में ही छोड़ गये। अब वह दक्षिण कौशल में

को कुत्ते, बिल्ली और चूहे खाने वाला कहकर चिढ़ाने और हँसने —लगे, तब नागरिकों ने नगर की दीवार पर चढ़कर अपने शत्रुओं से गरज कर कहा—'तुम हमको कुत्ते, बिल्ली, चूहे खाने वाला कहते हो? हाँ, हैं हम कुत्ते बिल्ली खाने वाले! परन्तु साथ-साथ यह भी विश्वास रखना कि जब तक नगर में से एक भी बिल्ली या कुत्ते की आवाज़ आती रहेगी, लीडन सिर नहीं झुकायेगा। जब हमारे पास कुछ भी खाने को न रहेगा तो यक़ीन रखना हममें से हरएक अपना बाँया हाथ खा-खा कर दाहिने से अपने देश, अपनी जाति, अपनी स्त्रियों, अपने धर्म और स्वतन्त्रता के लिये घोर युद्ध करेगा। यदि फिर भी भगवान ने प्रसन्न होकर हमारी सहायता न की, तो भी हम अन्त तक तुम से लड़ते रहेंगे।' जब अन्तिम घड़ी आजायगी, तब अपने हाथों हम अपने नगर में आग लगा देंगे। पुरुष, स्त्री, बच्चे सब अग्नि की ज्वालाओं में जलकर मर जायेंगे, परन्तु अपने घरों को विदेशियों के पदार्पण से अपवित्र नहीं होने देंगे। अपनी स्वतंत्रता का नाश न होने देंगे'। लीडन की स्वतंत्रता के लिये लड़ने वाले नागरिकों ने शत्रु से बचने का और कोई उपाय न देख कर समुद्र के बान्ध काट दिये और अपने देश को विदेशियों के पदों के अपवित्र स्पर्श से बचाने के लिये समुद्र में डुबा देने के लिये तैयार होकर चिल्लाने लगे—Better a drowned land than a lost land.

अर्थात्—हारे हुये देश से डूबा हुआ देश अच्छा" (नरमेध-यज्ञ से)

स्वतन्त्र रह कर अपनी जन्मभूमि के उद्धार की युक्तियाँ सोचने लगे। लगन बड़ी चीज़ है। जिनके हृदय अपनी मातृभूमि को स्वतन्त्र करने के लिये उमड़ रहे हों, वे वीर असफलताओं की ओर दृष्टिपात नहीं करते। जो वीर हैं, जिन्हें अपने आत्म-बल और बाहु-बल पर विश्वास है, उनके आज नहीं तो कल और कल नहीं तो परसों, एक न एक दिन सफलता अवश्यमेव पाँव चूमेगी। असफलता की बड़ी से बड़ी चोट, उनके हृदयों को आघात नहीं पहुँचा सकती ❀। अपनी धुन और लगन के पक्के अपनी कर्मवीरता से प्रतिकूल परिस्थितियों को भी अपने अनुकूल बना लेते हैं ✪। संसार की निष्ठुरता भी उनके सामने फीकी पड़ जाती है।

इस युद्ध में अशोक विजयी तो अवश्य हुआ, किन्तु उसे हार से भी अधिक मान्सिक सन्ताप और आत्मग्लानि हुई। कलिंगवासियों के आत्मोत्सर्ग का कुछ ऐसा हृदयग्राही प्रभाव पड़ा कि साम्राज्यलोलुपी अशोक धर्मापिपासू अशोक बन गया। उसने जीवन भर फिर युद्धों को घृणित समझा। और सदैव कलिंगवासियों के आन-मान का सब से अधिक ध्यान रक्खा।

❀ गिरते हैं शह-सवार ही मैदाने जंग में।
वह तिफ्ल क्या करेंगे, जो घुटनों के बल चलें॥
—अज्ञात

✪ मर्द वो हैं जो ज़माने को बदल देते हैं।
—अज्ञात

हमेशा अपने धर्म-लेखों द्वारा कलिंग में नियुक्त अपने प्रतिनिधियों को वहाँ के निवासियों को सुख पहुँचाने का विशेष सन्देश देता रहा ।

अशोक की मृत्यु के पश्चात् शनैः २ मौर्य-साम्राज्य निर्बल होता चला गया और मौर्यवंशी शालिसूक के शासन-काल में उचित अवसर पाकर ई० स० पू० २२० में दक्षिण-कौशल से एलवंशीय चैत्र राजा ने कलिंग को अपने हस्तगत करके फिर स्वाधीनता की घोषणा करदी ।

तृतीय राजवंश और स्वतंत्रता की घोषणा

चैत्रराजा ने अबकी बार स्वाधीनता की घोषणा की थी, इसीलिये उसके नाम पर यह वंश तृतीय एलचैत्रवंश कहलाया । कलिंग के उक्त तीनों राजवंशीय एल कहलाते थे और महामेघवाहन इनकी उपाधि होती थी । यह तीनों वंश एक ही राजवंश से सम्बन्धित थे या पृथक पृथक यह अभी निश्चित नहीं हुआ है ।

इसी तृतीय राजवंश या तीसरी पीढ़ी में (ई० पू० १९७ में०)राजा खारवेल का जन्म हुआ । इसके सम्बन्ध में एक शिलालेख मिला है, जिसका सबसे प्रथम ज्ञान स्टर्लिंग साहब को सन् १८२५ में हुआ । तब से आजतक अनेक पुरातत्वविमर्ष विचक्षण अपने अनुसन्धान द्वारा अनेक ज्ञातव्य बातें प्रकाशित कर चुके हैं । इसके सबसे प्रसिद्ध अन्वेषक और विशेषज्ञ मि० के० पी० जायसवाल हैं, जो अनवरित परिश्रम से इसकी अनेक ज्ञातव्य बातों को प्रकाश में लाये हैं ।

"कलिंगदेश (उड़ीसा) में खण्डगिरि-उदयगिरि नामक

"प्रसिद्ध दिगम्बर जैन क्षेत्र, भुवनेश्वर स्टेशन से ३ मील पर है। यहाँ अनेक गुफायें, शिलालेख, और दीवार से लगी हुई मूर्तियाँ हैं। यहीं हाथीगुफा में महामेघवाहन राजा खारवेल का २१०० वर्ष का प्राचीन उक्त प्रसिद्ध शिलालेख है। जो प्रायः पाँच गज़ लम्बा और दो गज़ चौड़ा है। इसमें १७ पंक्तियाँ हैं, प्रत्येक पंक्ति में ९० से १०० तक अक्षर हैं। इसकी भाषा कुछ स्थलों को छोड़कर विशेषतः धर्मग्रन्थों में व्यवहृत पाली है। इसकी लिपि ई०पू०१६० वर्ष की उत्तरीय ब्राह्मी है। अनेक अक्षर नष्टप्राय होचुके हैं, तोभी अधिकांश भाग भलीभांति पढ़ा जाता है" *। भारतीय इतिहास की सामिग्री के लिये यह अत्यन्त कीमती महत्वपूर्ण शिलालेख है। अशोक के धर्मलेखों के बाद यही वह दूसरा शिलालेख है, जिसे पुरातत्वज्ञ इतिहास के रीढ़ की हड्डी समझते हैं।

ई० पू० १८२ में १५ वर्ष की अवस्था में अनेक विद्याओं में निपुणता प्राप्त करके खारवेल युवराज पद पर प्रतिष्ठित हुआ,

खारवेल का राज्याभिषेक

और ई० पू० १७३ में २४ वर्ष की आयु में कलिंगके राज्यसिंहासन पर अभिषिक्त हुआ। कलिंग की राजधानी उस समय तोपली (वर्तमान धोली) थी, और कलिंग की जनसंख्या ३५ लाख थी उड़ीसा की वर्तमान जनसंख्या ५० लाख है।

राज्यासन प्राप्त करते ही खारवेल ने प्रथम वर्ष में अपनी राजधानी को, शत्रुओं से सुरक्षित रखने के लिये प्राचीर आदि

* अनेकान्त वर्ष १ किरण ५ पृ० २८५।

बनवाकर सुदृढ़ किया और इस कार्य से निवृत होते ही राज्य प्राप्ति के द्वितीय वर्ष में दिग्विजयके लिये प्रस्थान कर दिया।

दक्षिण-कौशल के पश्चिम में मूषिक नामक एक देश कलिंग से लगा हुआ उत्तर पश्चिम की ओर (वर्तमान कालाहाण्डी, सम्बल आदि) फैला हुआ था। मूषिक वासी कलिंग के अधीनस्थ काश्यप क्षत्रियों को निरन्तर सताते रहते थे। अतः काश्यपों के इस संकट को दूर करने के लिये खारवेल ने आन्ध्र प्रान्त की ओर से मूषिकों पर आक्रमण किया। किन्तु आन्ध्र-नरेश सातकर्णी ने खारवेल को अपने राज्य में से गुजरने देने में विरोध किया, अतःप्रथम उसी से युद्ध करके उसे परास्त किया, और फिर मूषिक देश पर आक्रमण करके उसे ई० पू० १७१ में कलिंग में सम्मिलित कर लिया।

१. मूषिक
२. आन्ध्र
विजय

राज्य के चौथे वर्ष में खारवेल ने फिर पश्चिम की ओर चढ़ाई की। भोजक और राष्ट्रिकों ने खारवेल के विरुद्ध सातकर्णी की सहायता की थी। इसी लिए उसको जीतने के पश्चात् इनकी भी खबर ली। यह दोनों राज्य गण-तन्त्र राज्य थे। इन दोनों गणराज्यों ने युद्ध में पराजित होने पर अपने मुकुट खारवेल के चरणों में झुका कर अधीनता स्वीकार की। यह खारवेल की दिग्विजय का वास्तव में श्रीगणेश था।

३. भोजक
४. रठिक
विजय

राज्यप्राप्ति के छठे वर्ष उसने राज-सूय यज्ञ किया और सातवें वर्ष विवाह किया। और आठवें वर्ष ई० पू० १६५ में

मगध की ओर विजय यात्रा करने निकला। अर्थात् दक्षिण और पश्चिम में साम्राज्य स्थापित करलेने पर अब वह उत्तर भारत को विजित करने चला। यह विजय-यात्रा, यात्रियों के समान सैर नहीं थी। भारत के सबसे प्रबल सम्राट् पुष्यमित्र से लोहा लेना था। यह पुष्यमित्र मौर्य-साम्राज्य का अन्त करके स्वयं सम्राट् बना था। इसने वैदिकरीत्यानुसार अश्व-मेध यज्ञ करके वेदमतानुयाई जनता और राजाओं की सहानुभूति प्राप्त करली थी। सिकन्दर भी जिन प्रदेशों को विजित न कर सका था, वही यवनराज दिमेत्र ने विजय किये थे। दिमेत्र भारत का सार्वभौम सम्राट् बनना चाहता था, ऐसे बल-शाली योद्धा को शकिस्त देकर पुष्यमित्र समूचे भारत में महान् शक्तिशाली सम्राट् गिना जाने लगा था। उसके स्वेच्छाचार को रोकने में कोई समर्थ नहीं था। न मालूम ऐसे बलशाली सम्राट् से युद्ध करने के लिये कलिंगराज खारवेल क्या खाकर चला था। मगध-नरेश पुष्यमित्र खारवेल का आक्रमण सुन मथुरा को चला गया, और वहाँ खारवेल के धावे की प्रतीक्षा में रहा। पुष्यमित्र के मथुरा चलेजाने पर खारवेल ने अपना मन्सूबा स्थिगत कर दिया और कलिंग को चला गया।

मगध विजय

नवें वर्ष कलिंग में उसने महाविजय प्रासाद बनवाया। राज्य प्राप्ति के दसवें वर्ष में उसने दण्ड, सन्धि और साम हाथ में लेकर फिर विजय के लिये प्रस्थान किया, जिन पर चढ़ाई की, उनके मणि-रत्न प्राप्त किये। ग्यारहवें वर्ष में आवराजा को

बसाई हुई पिथुँड नाम की मण्डी गर्धा के हल से जुतवा डाली और एकसौ तेरह बरस पुराने तामिल देश संघात (कई राष्ट्रों का गुट्ट) को तोड़ डाला। जो तामिल साम्राज्य मौर्य-राजाओं के अधीन होने से वचा रहा, उसे खारवेल ने अपने अधीनस्थ कर लिया। बारहवें वर्ष उत्तरापथ के राजाओं को त्रस्त किया और उसके बाद उसी वर्ष वह मगध के निवासियों में भय उत्पन्न करता हुआ अपनी सेनाओं को गंगा पार लेगया और भारत-सम्राट् कहलाने वाले पुष्यमित्र को परास्त कर उसे अपने पैरों में गिराया। तथा राजा नन्द द्वारा लेगई हुई कलिंग जिन-मूर्ति को पुनः हस्तगत करके कलिंग में स्थापित किया। मगध-राजा नन्दवर्द्धन और अशोक ने कलिंग जीता था, तथा पुष्यमित्र ने जैनों और बौद्धों को दुःख पहुँचाया था, अतः खारवेल ने मगध-विजय करके उक्त अपमानों का बदला ले लिया।

खारवेल-इतिहास के विशेष अन्वेषक जायसवाल महोदय लिखते हैं कि:— 'इस महाविजय के बाद जब कि शुंग, सातबाहन और उत्तरापथ के यवन सब दब गये थे, खारवेल ने जो राज-सूय यज्ञ पहिले ही कर चुके थे, एक नये प्रकार का पूर्त ठाना, उसे जैनधर्म का महाधर्मानुष्ठान कहना चाहिये। उन्होंने भारतवर्ष भरके जैन यतियों, जैन तपस्वियों, जैन ऋषियों और पण्डितों को बुलाकर एक धर्म सम्मेलन किया। इस में उन्होंने जैन आगम को विभक्त करा पुनरुपादित कराया। ये अंग मौर्यकाल में कलिंग-देश तथा और देशों में लुप्त होगये थे। अंग सप्तिक और तुरीय

अर्थात् ११ अंग प्राकृत में, जिसमें ६४ अक्षर की वर्णमाला मानी जाती थी, सम्मेलन में संकलित किये गये। खारवेल को 'महाविजयी' पदवी के साथ 'खेमराजा' 'भिक्षुराजा' 'धर्मराजा' की पदवी अखिल भारतवर्षीय जैन-संघ ने मानों दीं। क्योंकि शिलालेख में, सबसे बड़ा और अन्तिम चरमकार्य यही माना गया है और जैन संघयन तथा अंगसप्तिक तुरीय सम्पादन के बाद ये पदवियाँ जैन लेखक ने खारवेल के नाम के संग जोड़ी हैं। शिलालेख का लिखने वाला भी जैन था, यह लेख के श्रीगणेश, 'नमो अरहतानं, नमो सवसिधानं' से साबित है......खारवेल ने कुमारी पर्वत पर जहाँ पहले महावीर स्वामी या कोई दूसरे जिन उपदेश दे चुके थे, क्योंकि उस पर्वत को सुप्रवृत्त विजयचक्र कहाहै—स्वयं कुछ दिन तपस्या, व्रत, उपासक रूप से किया और लिखा है कि—जीव देह का भेद उन्होंने समझा। इससे यह सिद्ध हुआ कि तपस्या, जीव देह का दार्शनिक विचार आदि उस समय से अथवा उसके आगे से जैन-धर्म चला आता है। खारवेल के पूर्व पुरुष का नाम महामेघवाहन और वंश का नाम एलचेदिवंश था। इनकी दो रानियों का नाम लेख में है। एक वजिर घर वाली थी, वजिर घरवाली अब वैरागगढ़ (मध्यप्रदेश) कहा जाता है, और दूसरी सिंहपंथ या सिंहप्रस्थ की सिंधुड़ा नामक थीं। जिनके नाम पर एक गिरिगुहाप्रासाद जो हाथी-गुफा के पास है, उन्होंने बनवाया। इसे अब रानीगौर कहतेहैं"*

---

* नागरी प्रचारणी पत्रिका भाग १० अंक ३।

खारवेल की इसी दूसरी रानी ने अपने पति की अमरकृति को जीवित रखने के लिये हाथीगुफा में उक्त शिला-लेख अंकित

खारवेल का विवाह

करवाया था, किंतु उससे खारवेल की दो रानियाँ एक वजिर घर वाली और द्वितीय सिंहप्रस्थ की सिंधुड़ा नामक पटरानी थी। इस से अधिक वृत्तान्त नहीं मिलता, खारवेल के विवाह-सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करनेकी प्यास बनी ही रहती है। उड़ीसा के ख्यातिनामा विद्वान् पं० नीलकण्ठदास एम० ए० ने खारवेल की पटरानी सिंहप्रस्थ राजकुमारी के विवाह का उड़िया में एक काव्य लिखा है, आपने उसमें सिंधुड़ा के स्थान पर उसका धूसी नाम लिखा है। उसी उड़िया काव्य का संक्षिप्त सारांश "प्राचीन कलिंग" नामक हिंदी पुस्तक के आधार पर यहाँ दिया जाता है।

खारवेल पाण्ड्य देश को विजित करते हुये, जावा और बाली द्वीप की ओर निकल गये। वहाँ उन्हें मालूम हुआ कि—फारस देश में जानेवाले कलिंग के व्यापारी सिन्धुनदी के किनारे से पश्चिम की ओर निर्विघ्न और सुगमता पूर्वक व्यापार नहीं कर सकते। उन्हें कर-दण्ड बहुत देना पड़ता है और स्वाभिमान भी उनका अक्षुण्य नहीं रह पाता है। कलिंग व्योपारियों का अपमान, कलिंग-राष्ट्र का अपमान था, स्वदेशाभिमानी कलिंग-नरेश भला इस अपमान को सुनकर कैसे चुप बैठ सकता था। दूसरे उसे यह भी विदित था कि कलिंग कितना ही आज शक्तिशाली और समृद्धिशाली है, किन्तु उसके

व्यापार में रुकावटें पड़ने लगेंगी तो, वह अवश्य एक-न-एक दिन दीन-हीन राष्ट्र बन जायगा। "व्यापारे वसते लक्ष्मी"—यह ध्यान आते ही कलिंग के प्रवासी व्यापारियों के दुःख निवारणार्थ सिन्धु देश की ओर ससैन्य चल पड़ा।

विजिर (अफगानिस्तान का पूर्व प्रदेश) राज्य, सिन्धु के पश्चिम तक फैला हुआ था और सिन्धु देश में एक पाताल (पटल) नगर था। उसके पश्चिम में द्रविड जाति के किसान रहते थे, उनका भी एक राजा था। इसी कृषक राजा से विजिर के राजा की मित्रता थी। इस विजिर राजा की पुत्री का नाम धूसी था। दमेत्रिय के कपट पूर्वक विजिर हस्तगत किये जाने पर विजिर राजा और उसका पुत्र तो अपने किसी अन्य मित्र राजा के आश्रय में चले गये और धूसी राजकुमारी को युवा होने के कारण अपने मित्र कृषक सरदार के यहाँ छोड़ गये जो राजकुमारी का पुत्री के समान लालन पालन करने लगा।

खारवेल ने ससैन्य सिन्धुनदी के मुहाने पर स्थित पाताल नगर में डेरा डाले, और कृषक देश के उस वृद्ध सरदार को भी अपनी ओर से लड़ने के लिये निमंत्रण दिया। राजकुमारी धूसी ने एक रोज खारवेल को देख लिया, चार आँख होते ही वह इसके वीर-वेष पर मुग्ध होगयी। कृषक सरदार खारवेल को अपनी सेना देने का वचन दे चुका था, किन्तु उचित सेनानायक न होने के कारण चिन्तित था और स्वयं वृद्ध होने के कारण सेना-संचालन योग्य नहीं था। राजकुमारी धूसी अपने धर्म-

पिता के संकट को समझ गयी। वह युद्ध विद्या में काफ़ी निपुण थी, अतः ज़िद करके यह भार उसने अपने ऊपर लेलिया, और पुरुष वेष में अपनी छोटी सी सेना लेकर खारवेल के साथ जा मिली।

युद्ध के समय यवन-नरेश दमेत्रिय ने खारवेल के साथ कपट सन्धि का जाल रचा, और विजिर राजा के साथ विजिर में आकर सन्धि करने के लिये खारवेल को राज़ी कर लिया। विजिर राजकुमारी दमेत्रिय के इस जाल से शंकित थी अतः वह विजिर में न जाकर अपने थोड़े से सैनिकों के साथ विजिर के बाहर चौकन्नी होकर अवसर की प्रतीक्षा करने लगी। दमेत्रिय ने खारवेल को असावधान समझ कर रात के समय घेर लिया, खारवेल की सेना अभी सावधान होने भी न पाई थी, कि धूसी अपने सैनिकों को लेकर दमेत्रिय पर पीछे से बाज की तरह झपट पड़ी। दमेत्रिय इस आकस्मिक आक्रमण से घबरासा गया, इधर खारवेल भी अपनी सेनाको ललकार कर मैदानेजंग में आ डटा। दुतर्फ़ी मार से दमेत्रिय के पाँव उखड़ गये, और उसे परास्त होकर विजिर छोड़ना पड़ा। किन्तु खारवेल इस अचानक धावे के कारण सख़्त घायल होने से घोड़े से गिरना ही चाहता था, कि धूसी ने उसको तुरन्त सम्हाल लिया और शिविर में लाकर उसकी अत्यन्त सावधानता पूर्वक परिचर्य्या करके स्वस्थ्य कर लिया। इस जीत का सारा श्रेय पुरुषवेशधारी धूसी को प्राप्त हुआ। खारवेल

ने उससे इच्छित वस्तु माँगने का अनुरोध किया, तब राजकुमारी ने खारवेल को पति रूप में वरण करने की अभिलाषा प्रकट कर दी। खारवेल के यह पूछने पर कि 'तुमने इतनीसी बात के लिये यह पथ क्यों स्वीकार किया' ? तब राजकुमारी धूसी ने लजाते हुये उत्तर दिया, 'वीरों के पास वीर-वेष में ही आना उपयुक्त था'। विजित जीता हुआ प्रदेश उसके वास्तविक स्वामी, राजकुमारी धूसी के पिता को देदिया, और खारवेल धूसी को पटरानी बनाकर कलिंग चला आया।

खारवेल का द्वितीय विवाह किस प्रकार हुआ, यद्यपि इसका, कहीं उल्लेख नहीं है। किन्तु उड़ीसा की एक देवी ने मुझे निम्न अनुश्रुती सुनायी थी—एक राज-कन्या ने प्रतिज्ञा की थी, कि जो मुझे युद्ध में जीत सकेगा, वही मेरा पति होगा। इस कन्या को वरण करने के लिये स्वयंवर में अनेक योद्धा आये, किन्तु सब ने मुँह की खायी। अन्त में खारवेल ने इसे युद्ध में परास्त करके रथ में बलात् बैठा लिया। तब प्रसन्नता पूर्वक प्रतिज्ञाबद्ध राज-कन्या ने खारवेल को वरमाला पहनाई। सिंहनी को सिंह ही वरण कर सकता है, अन्य नहीं।

भारत से यवनों को पूरी तरह खदेड़ने का श्रेय चन्द्रगुप्त मौर्य के बाद महामेघवाहन खारवेल को ही प्राप्त हुआ। वह अपने तीनों प्रतिद्वन्दियों और भारत के अन्य छोटे बड़े शासकों को विजय करके भारत का चक्रवर्ती बन बैठा। चक्रवर्ती खारवेल,

खारवेल का शासन और व्यक्तित्व

केवल साम्राज्य अभिलाषी नहीं था। वरन् वह महान् सम्राट् देश, समाज और धर्म की उन्नति में अत्यन्त प्रगतिशील था। यद्यपि वह जैनकुलोत्पन्न एक धर्मिष्ट राजा था, उसे जैनधर्मानुसार जीवन व्यतीत करने के कारण "भिक्षुराजा" की पदवी प्राप्त हुई थी। वह जैनधर्मनिष्ठ एक श्रद्धालु जैन था, किन्तु वह अन्य धर्मद्वेषी नहीं था। उसका हृदय विशाल था, वह अपने धार्मिक विश्वासानुसार आचरण करते हुये, सभी धर्मों को आदरणीय दृष्टि से देखता था। जहाँ उसने जैनधर्म के उत्थान के लिये एक धर्मानुष्ठान किया, वहाँ उससे पूर्व राजसूययज्ञ करके सब धर्मों और राष्ट्रों में एकता का सूत्रपात किया। प्रजा पर लगे हुये समस्त कर क्षमा कर दिये और पौर (म्यूनिस्पलकमेटी) जनपद (डिस्ट्रिक्टबोर्ड) नामकी संस्थाओं को अनेक अधिकार दिये। कृषि तथा जलपान की सुविधा के लिये बहुत से तालाब खुदवाये, तथा स्थान-स्थान पर सार्वजनिक मनोरंजन के लिये, उद्यान बनवाये, संगीत और वाद्य का प्रबन्ध करवाया। वह स्वयं भी गान्धर्व विद्या में पारंगत था। ब्राह्मणों को विपुल धन का दान दिया। हाथीगुफा के शिलालेख से प्रकट होता है कि खारवेल के शासन काल में, कलिंग-प्रजा अत्यन्त सुखी थी। खारवेल के साम्राज्य में, सुख सम्पत्ति, वैभव और ऐश्वर्य की प्रचुर सामिग्री उपस्थित थी। सुखसम्पत्ति के साथ-साथ उसके राज्य में धार्मिक स्वतंत्रता होने के कारण चार चान्द लग गये थे। उस समय कलिंग की सीमा, उत्तर में गंगा नदी और बिहार प्रदेश,

पश्चिम में वरार गौंडवाना राज्य, महाराष्ट्रदेश और दक्षिण में पाण्ड्य राज्य तक थी। भारत के छोटे-बड़े समस्त राजा, खारवेल को चक्रवर्ती स्वीकार करके सम्मान प्रदर्शित करते थे।

शिलालेख खारवेल के शासन के तेरहवें वर्ष पर समाप्त होजाता है। उस समय खारवेल की अवस्था ३७ वर्ष की थी। उसके बाद फिर उसने क्या किया, इसका स्पष्टीकरण नहीं होता। वह चक्रवर्तित्व प्राप्त करने के बाद, जैनधर्मानुसार जीवन व्यतीत करने लगा था। मंचपुरी के शिलालेख से अनुमान लगाया जाता है कि सम्भवतः कम से कम ६७ वर्ष की आयु तक खारवेल ने अवश्य राज्य किया होगा और इस प्रकार ई० पू० १३० वर्ष तक इस महान् सम्राट् का अवश्य शासन रहा होगा।

२

दूसरा प्रकरण
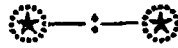
[ईस्वी सन् प्रारम्भ से ईस्वी सन् ६०० तक]

ई० पू० १३० के बाद खारवेल के उत्तराधिकारी सम्भवतया उस विस्तृत साम्राज्य को न सम्हाल सके। अतः फिर अधीनस्थ

सुंग-वंश का अन्त देशी-विदेशियों के आक्रमण

अथवा दबे हुये राज्य उभर आये। सुंग-वंशी पुष्यमित्र के उत्ताराधिकारी फिर चमक उठे। ई० पू० ७३ में सुंग-वंश को समाप्त कर वसुदेव ने कण्वबंश की स्थापना की। इस प्रकार ई० पू० ७३ से लेकर ई० स० २७४ तक, अर्थात् ३४७ वर्ष तक, भारत में कण्व आन्ध्र, ग्रीक, शक*, पल्हव, कुशान, चोल, पांड्य, केरल आदि

---

* शक लोग भारतवर्ष में कैसे आये? इसका जैन-ग्रन्थों में रोचक और प्रामाणिक वर्णन मिलता है। श्रीजायसवालजी ने भी इसकी सत्यता में विश्वास किया है। मगध देश के अन्तर्गत थारावास (धारावास) नगर के राजा वज्रसिंह की पटरानी सुरसुन्दरी की कोख से कालककुमार और सरस्वती का जन्म हुआ था। युवा होने पर सान्सारिक ममता इन्हें अपनी ओर न

देशी और विदेशीय वंशों ने भारत के भिन्न २ प्रान्तों पर भिन्न-भिन्न समय में राज्य किया। एक वंश दूसरे को, दूसरा तीसरे को, मिटा कर राज्य करता रहा। सर्वांश में किसी एक वंश का राज्य नहीं था। इन दिनों कोई उल्लेख योग्य घटना नहीं हुई। अतः इस रक्त-रंजित अवर्णनीय घटना का पटाक्षेप करके आगे

खींच सकी, जैनधर्मानुसार दीक्षित होकर कालककुमार साधु वेष में और सरस्वती आर्यिका वेष में लोकहित के सन्देश को लेकर पृथक -पृथक, गाँवों, देहातों, शहरों, वनों, पर्वतों में विचरने लगे। विचरते हुये कालककुमार उज्जैन में भी आये, अब यह जैन संघ के आचार्य पद पर प्रतिष्ठित थे। समीप में ही विचरते हुये साध्वी सरस्वती ने कालकाचार्य्य का उज्जैन आगमन सुना तो वह भी कालकाचार्य से धर्म-श्रवण के लिये उज्जैन में आगयी। उज्जैन का राजा गर्दभिल्ल जो एक प्रजा-पीड़क स्वार्थान्ध कामपीड़ित शासक था, सरस्वती साध्वी को मार्ग में देख, तप और संयम से चमकते हुये उसके रूप पर मुग्ध होगया, और राजकर्मचारियों द्वारा बलात् हरण करके उसे अन्तःपुर में भिजवा दिया। यह समाचार क्षणभर में बिजली की तरह सारे जैन-संघ में फैल गया। उज्जैन-वासी दहाड़ मारकर रोने लगे। वह एक डेपुटेशन लेकर राजा के पास पहुंचे, रोए, गिड़गिड़ाए, पाँवों पड़े, पर राजा गर्दभिल्ल ने एक न सुनी। उल्टा डेपुटेशन में गये हुये संघ के इन प्रमुखों को दुत्कार कर बाहर निकाल दिया। बेचारे भेड़ों की तरह नीची गर्दन किये हुये चले आये।

भारतीय-इतिहास के उज्ज्वल पृष्ठों का दिग्दर्शन किया जाता है।

ई० स० २७५ से भारत के शासन की बागडोर गुप्त-वंश के हाथ में आयी। इस वंश के १ श्रीगुप्त, २ घटोत्कच, ३ चन्द्रगुप्त

गुप्त-वंश	४ समुद्रगुप्त. ५ चन्द्रगुप्त द्वितीय, ६ कुमारगुप्त ७ स्कन्दगुप्त, ८ कुमारगुप्त द्वितीय, ९ बुधगुप्त,

---

कालकाचार्य्य ने जैनसंघ की विफलता और अकर्मण्यता को सुना तो दंग रह गये। हाय! यदि जैन साध्वी का अपहरण करने वाले को इनमें दण्ड देने की क्षमता न थी--सरस्वती को वापिस लाने की इनमें शक्ति न थी, तो ये सब वहीं मर क्यों न गये, यहाँ तक खाली हाथ लौट आने में इन्हें लाज न आयी। यह सरस्वती की रक्षा का प्रश्न नहीं, यह तो राष्ट्र-धर्म और समूचे मानव समाज का अपमान था. फिर भी यह सब इस अपमान को ज़हर की घूण्ट के समान पीकर भी जीवित बने रहे, वीर-पुत्र होने पर भी कायरों की भाँति चले आये, इससे अधिक श्रीसंघ का और क्या पतन होगा?

कालकाचार्य्य यद्यपि एक साधु थे, चलते हुये भी कोई जीव न मर जाय, इस खयाल से चलते हुये मार्ग में चार हाथ जमीन देखकर चलते थे। उनकी दृष्टि में शत्रु-मित्र, महल-स्मशान, मान-अपमान सब समान थे। वह दयासागर और क्षमा के भण्डार थे। किन्तु यह अत्याचार देखना उन्होंने मानव समाज का अपमान और अपने लिये पाप समझा। वह एक बार स्वयं गर्दभिल्ल को समझाने के लिये उसके पास गये,

१० भानुगुप्त—राजाओं ने ई० स० २७५ से ई० स० ५३३ तक क्रमशः राज्य किया। यह वंश सम्भवतया वैश्य वंश था। ऐसा विद्वानों का मत है।

किंतु गर्दभिल्ल न माना। कालकाचार्य्य दुद्धर तपश्चरण करके अपने क्षत्रियोचित शरीर को बिल्कुल बेकार कर चुके थे, न उनमें वह पहिला सा शौर्य था न बल, केवल हड्डियों की माला बने हुये थे, फिर भी उनकी नसों में वीर-लहू प्रवाहित था, उनके मुख पर तेज था, वह इस अत्याचार का बदला लेने के लिये पागल हो गये। घूमते हुये वे सिंधु नदी के तट पर बसे हुए पार्श्वकुल नाम के देश में जा पहुंचे, जहाँ साखी (शक) राजा राज्य करते थे। कालकाचार्य्य के कहने से शक राजा ससैन्य उज्जैन पर चढ़ आया और कालकाचार्य्य की चतुरता से गर्दभिल्ल को परास्त कर दिया। कालकाचार्य्य को गर्दभिल्ल से व्यक्तिगत वैर नहीं था, उन्हें उसके इस अत्याचार से वैर था। शक राजा उसे मार डालना चाहते थे, किन्तु कालकाचार्य ने प्रायश्चित स्वरूप उसको राज्य से वंचित रखना ही यथेष्ट समझा। संकटावस्था में पड़ी हुई सरस्वती साध्वी को कालकाचार्य ने कारागृह से मुक्त किया और फिर दोनों भाई, बहन साधु के उत्कृष्ठ व्रत धारण करके लोक हित के लिये विचरने लगे।

फाहियान की भारत यात्रा से प्रकट है कि:—"वह गुप्तवंशीय राजा चन्द्रगुप्त द्वितीय के शासनकाल (ई० स० ३९९-४१४) में भारत में बौद्ध-ग्रन्थों की प्राप्ति के लिये आया था। उसने तत्कालीन सामाजिक और धार्मिक दशा का अच्छा वर्णन किया है। शायद बीसवीं सदी की दृष्टि से उसका यह विवरण अच्छा या रुचिकर न मालूम हो, परन्तु इतिहासकी दृष्टि से यह अमूल्य ज्ञान है। उससे पता चलता है कि द्वितीय चन्द्रगुप्त का राज्य समृद्धिशाली और प्रतापी था। शासन-प्रणाली अच्छी थी। लोग सुखी थे, धन-धान्य की उन्हें कमी न थी। २७ वें अध्याय में उसने पाटलिपुत्र के विशाल भवनों का वर्णन किया है। उसका कथन है कि, आसुरी-शक्ति के सिवाय ऐसे भवन कौन बना सकता है? वे मनुष्य-कृत नहीं है। वह बड़े चाव से वहाँकी रथ-यात्रा का वर्णन करता है। वहाँ के संघारामों के यतियों का जिक्र करता है। उनकी विद्या और बुद्धि की सराहना करता है। मध्यदेश के नगर सबसे बड़े हैं, यहाँ के निवासी धनवान और सुखी हैं। वे धर्म के पालन में एक दूसरे से बाजी लेते हैं। इस देश में बहुत से अनाथालय हैं। निर्धनों के लिये बहुत सी पुण्यशालायें भी बनी हुई हैं। यात्रियों के ठहरने के लिये धर्म-शालायें बनी हुई हैं। राजधानी में अति सुन्दर हस्पतालें हैं? ये चिकित्सागृह धार्मिक और शिक्षित लोगों की सहायता से चल रहे हैं। यहाँ पर सब प्रकार के बीमार आते हैं, उनकी खूब

फाहियान का भारत-भ्रमण

सेवा सुश्रुसा की जाती है। डाक्टर उनका इलाज करता है। उनकी सब आवश्यकतायें पूरी कीजाती हैं। अच्छे होने के बाद वे अपने घरों को चले जाते हैं ※"।

"फाहियान ने मदुरा के दक्षिण-देश की खूब तारीफ़ की है। मालवा की सुखी और सम्पत्ति से पूर्ण प्रजा को देख कर वह बहुत प्रसन्न हुआ था। देश की स्वाभाविक सम्पत्ति लोगों की उदार वृत्ति और राज्य का अत्युत्तम प्रबन्ध तीनों की उसने सराहना की है। यहाँ की आब-हवा से वह खूब सन्तुष्ट रहा। करोड़ों मनुष्य उत्तम राज्य के जोर साये सुख पूर्वक अपना जीवन व्यतीत करते थे। चीनी राज्य-शासन-प्रणाली की याद करके

※प्रसिद्ध इतिहासकार विन्सैण्ट स्मिथ इन हस्पतालों के सम्बन्ध में लिखता है:—"उस समय जब कि ये चिकित्सागृह निर्माण किये गये थे, संसार के किसी भी भाग में इस प्रकार की संस्था नज़र नहीं पड़ती। जिन शुभ कामों का उल्लेख ईसाई धर्म के परोपकार में आता है, उनका प्रचार भारतवर्ष में ईसा के पूर्व होचुका था। इससे पता लगता है कि लोगों की वृत्ति कितनी श्रेष्ठ थी और महाराज अशोक का हृदय स्वभावतः कितना विस्तीर्ण था। जबकि उसके मरने के कई शताब्दि बाद भी उसके शुभ उद्देश्यों का बराबर प्रचार बढ़ता गया। योरुप का सबसे प्राचीन चिकित्सागृह जो 'मैसन डियू आफ पेरिस' के नाम से प्रसिद्ध है, फ्राँस देश में सातवीं सदी में अर्थात् अशोक के एक हज़ार वर्ष बाद बनाया गया था।

और उससे तुलना करके फाहियान कहता है कि, 'हिन्दुओं को अपने घरों का नाम रजिस्टरों में दर्ज कराना नहीं पड़ता, न उनको निरर्थक क़ानून और मजिस्ट्रेट के हाथों जिल्लत उठानी पड़ती है। वे जहाँ चाहें जा सकते हैं। पासपोर्ट की दिक्कत उनको नहीं पड़ती अपनी इच्छा के अनुसार वे देश भरमें भ्रमण कर सकते हैं। उनके घरों में ताला नहीं लगाया जाता। चीनी दण्ड-प्रणाली की अपेक्षा फाहियान को यहाँ की दण्ड-प्रणाली कुछ उदार मालूम हुई। अधिकांश जुर्मों में सिर्फ जुर्माना होता था। मौत या काले पानी की सज़ा प्रायः नहीं दी जाती थी। जो बार बार डाकेज़नी के अपराध में पकड़ा जाता उसका दाहिना हाथ काट लिया जाता था। देश का लगान ज़मीदारों से वसूल होता था। राजकर्मचारियों को नियत वेतन मिलता था। वे किसी भी प्रकार प्रजा पर अन्याय नहीं करते थे और निश्चित समय तक नौकरी करने के बाद वे पेंनशिन के अधिकारी होते थे"।

"धर्म का इतना प्रचार था कि सारे देश में कोई किसी प्राणी की हिंसा नहीं करता था और न शराब पीता था। प्याज और लहसुन भी यहाँ के निवासी काम में नहीं लाते थे। वे मुर्गी और सूअर नहीं पालते थे। यहाँ पशुओं का व्यवहार नहीं होता था। चाण्डाल ही वधिक, मछुये और शिकारी का व्यवसाय करते थे। ....इस समय समुद्र यात्रा से लोग ऐतराज नहीं करते थे। वे स्वतंत्रता पूर्वक चीन और दूर दूर देशों तक जाते थे। फाहियान स्वयं समुद्रयात्रा से अपने देश को वापिस गया था। उस जहाज

में ब्राह्मण भी थे। इस से पता लगता है कि उस समय के हिन्दु विचारों में ज्यादा स्वतन्त्र और उदार थे"।

"इस प्रकार भारतवर्ष ने सुख, सम्पत्ति, ज्ञान और स्वतन्त्रता का भोग किया। धार्मिक दृष्टि से उन्होंने (भारतियों ने) संसार का सच्चा राज्य किया। राजनीतिक तराजू में भी वे अपना पलड़ा भारी रख सके। इधर एशिया-खण्ड में ही नहीं, वरन् यूरोप तक में उनके साधु और यति गण धर्म प्रचार करने के हेतु स्वतन्त्र भ्रमण करते थे।......उधर राजनीतिक जगत में ग्रीस और रोम में हमारे राज-प्रतिनिधि वर्तमान थे। प्राचीन मिसर देश से हमारा घनिष्ट सम्बन्ध था। जब हमको राज्य करने का अवसर मिला, तब हमने इस कार्य का सम्पादन वैसी ही योग्यता के साथ किया, कि कोई उन्नतिशील और स्वतंत्र राज्य कर सकता है। चन्द्रगुप्त, अशोक, शिलादित्य, विक्रमादित्य, कनिष्क आदि महाराजाओं का नाम किसी से छिपा नहीं है। स्वतन्त्रता के दिनों में कोई भी विदेशी या देशी हमारी राज्य-प्रणाली से असन्तुष्ठ नहीं था। ......प्रजा में अधिकांश लोग शिक्षित थे। स्त्रियों में शिक्षा का यहाँ तक प्रचार होगया था कि सान्सारिक कार्यों में दक्ष होने के अतिरिक्त साधु वृत्ति भी धारण कर सकती थीं। संसार की सभ्य जातियों से हमारा वर्ताव बराबरी का था। देश का शासन आदर्श था। धर्म, विद्या, व्यापार, कला, कौशल, वाणिज्य, समुद्र-यात्रा, शस्त्रविद्या एवं राष्ट्रीयता के लिहाज से और आदर्श सामाजिक संगठन की दृष्टि से इस देश का सानी दूसरा न था। राष्ट्रीय और

सामाजिक वृत्ति की उदारता वर्तमान काल की अनुदार्य-वृत्ति को शर्माती है। विदेश में हम लोग आदर के पात्र थे। हम भी विदेशियों का सम्मान करते थे। इस डर से नहीं कि वे हम से मज़बूत हैं और हमारा अनिष्ठ कर सकते हैं, परन्तु कर्तव्य वश हम ऐसा करते थे। विश्वबन्धुत्व के लिहाज़ से हम उन्हें अपने देश का अतिथि समझते थे। शक्ति रखते हुये भी हमने किसी के अधिकारों को हड़प करने का विचार तक न किया। इसके विपरीत कि हम उनसे कुछ लेते, हमने एशिया और यूरोप निवासियों में धर्म और ज्ञान का विस्तार किया। सभ्य जाति के जो कर्तव्य हैं, उन्हें हमने सहर्ष और निःस्वार्थ रीति से पूरा किया*।"

उक्त व्यवस्था चन्द्रगुप्त द्वितीय के शासन काल (ई० स० ४१३) तक रही। उसके बाद हूणों के आक्रमण प्रारम्भ हो गये।

हूण और उनके अत्याचार

प्रारम्भ में तो चन्द्रगुप्त के पौत्र स्कन्दगुप्त ने हूणों का अत्यन्त वीरता से मुक़ाबला करके उनको परास्त किया, किन्तु हूणों के निरन्तर अनथक आक्रमणों के कारण अन्त में हूण ही विजयी हुये।

हूणोंकी सेना टीड़ी दलके समान ऐसी असंख्य थी और इनका शारीरिक बल इतना बढ़ा हुआथा, कि एक हूण के सम्मुख कोई सभ्य जाति का एक पुरुष खड़ा नहीं हो सकता था। इनके दल

*"फाहियान और हुएनसंग की भारत-यात्रा" की भूमिका से।

के दल बराबर आते जाते थे, यहाँ तक कि स्कन्दगुप्त की सारी सेना और कोष बरबाद हो गये। किन्तु हूणों* की सेना न घटी। हूणों के राजा तोरमान ने गान्धार के शकों को परास्त करके मालवा और उत्तर- पश्चिम प्रान्त पर अधिकार कर लिया। इससे गुजरात गुप्तराज से पृथक होगया। इसी समय से गुजरात का वल्लभी राज्यवंश प्रारम्भ होता है, जो आठवीं शताब्दी (मुसलमानों के अक्रमण काल) तक राज्य करता रहा। तोरमान का पुत्र मिहिरगुल बड़ा निर्दई और हिंसक था। यह शैव मतानुयायी था, यह बौद्ध स्तूपों को नष्ट कर मठों को लूट लेता था और बौद्ध भिक्षुओं को हर तरह से तंग करता था। इसने अपने मनोविनोद

---

* हूण नाम की एक जाति मध्य एशिया में रहती थी। वहाँ से रवाना होने पर इस जाति की दो शाखायें हो गईं। उनमें से एक औक्सस और दूसरी वोल्गा नदी की तरफ रवाना हुई। वोल्गा वाली शाखा ने तो ई० स० ३७५ के करीब पूर्वी यूरोप पर आक्रमणकर गोथ लोगों को खदेड़ दिया और औक्सस वाली शाखाने कुशान राजाओं से काबुल छीनकर भारत की तरफ़ चढ़ाई की। ये औक्सस नदी पर बसे हुये हूण, श्वेतहूण के नाम से प्रसिद्ध थे। ये लोग अन्य मनुष्यों से अपने चौड़े कंधों चपटी नाक, और घुसी हुई काली छोटी आँखों से पहचाने जाते थे, इनके दाढ़ी मानों थी ही नहीं, इससे इनमें न तो जवानी की सुन्दरता जान पढ़ती थी न बुढ़ापे का महत्व। यह अत्यन्त कुरूप तीक्ष्ण-स्वर युक्त असभ्य जाती थी।

के लिये १०० हाथी काश्मीर के पहाड़ से लुढ़कवा दिये थे। इसका चरित्र वहुत ही क्रूर था। इसको वालादित्य और यशोधर्मन (मालवा का राजा) राजाओं ने मिल कर परास्त किया, उनके दया पूर्वक छोड़ने पर यह काश्मीर चला गया और वहाँ शरण देने वाले राजा को मार कर स्वयं राज्यारूढ़ होकर प्रजा-पीड़न करने लगा। ई० स० ५४२ में इसकी मृत्यु हुई। इसके पीछे के किसी हूण राजा का इतिहास नहीं मिला है।

"मिहिरगुल के परास्त होने के (ई० स० ५२४ से ५२८ वि० सं० ५८१ से ५८५) वाद से महमूद गजनवी के पंजाव पर अधिकार करने (ई० सं० १०२३ वि० सं० १०८०) तक, अर्थात् ५०० वर्ष तक भारतवर्ष वाहरी आक्रमणों से बचा रहा था। यद्यपि ई० सं० की आठवीं शताब्दी में अरवों ने सिन्ध विजय किया था, तथापि उस प्रदेश के एक तरफ को होने के कारण शेष भारत पर इसका प्रभाव वहुत ही कम पड़ा था"।

"मिहिरगुल के परास्त होने के वाद ई० स० की छठी शताब्दी के उत्तरार्द्ध का हाल वहुत ही कम मिलता है। अनुमान होता है कि हूणों के आक्रमणों के कारण भारतकी दशा अव्यवस्थित होगई थी। इसी से शायद उस समय एक भी ऐसा राजा नहीं रहा होगा, जिसका प्रताप विशेष उल्लेख योग्य हो"।

—:०:०:०:—

३

तृतीय प्रकरण
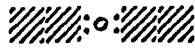
(ईस्वी सन् ६०० से ई० स० १२०० तक)

"इस युग के आरम्भ में, भारत तीन खण्डों में विभाजित था। सबसे दक्षिण में पल्लवों का राज्य था, उनसे उत्तर-दक्षिणमें चालुक्यों का अधिकार था और उससे भी उत्तर हिन्दुस्थान में थानेश्वर का राज्य था। ई० स० की सातवीं सदी के प्रारम्भ में इन तीनों राज्यों में तीन बड़े २ प्रतापी राजा राज्य कर रहे थे। थानेश्वर प्रसिद्ध हर्षवर्द्धन के हाथ था। इसने कुछ दिनों के बाद कन्नौज में राजधानी बनाई। चालुक्यों का राज्य उस वंश के सबसे प्रसिद्ध राजा पुलकेसिन द्वितीय के हाथ में था और पल्लवों की राजगद्दी पर प्रसिद्ध नरसिंह वर्म्मन बैठा था।"

हर्षवर्द्धन

हर्षवर्द्धन ही सब से अन्तिम राजा हुआ जिसने उत्तर भारत को एकछत्र किया था।

इसी समय प्रसिद्ध चीनी यात्री हुएनसांग सन् ६२६-३० में भारत में आया। उसके विवरण से प्रकट होता है कि— "राज्य

हुएनसांग की दृष्टि में भारत

का प्रबन्ध बहुत ही अच्छा था। पृथ्वी की आय का छठा हिस्सा लगान के रूप में लिया जाता था। अधिकारियों को जीविकार्थ पृथ्वी दी जाती थी। कर बहुत हलके थे। धार्मिक कार्यों में उदारता के साथ द्रव्य खर्च किया जाता था। छोटे-छोटे अपराधों की सजा केवल जुर्माना मात्र थी। परन्तु बड़े अपराधियों को कठोर दण्ड दिया जाता था। कुछ अपराधों में नाक, कान, अथवा हाथ-पाँव भी काट दिये जाते थे। प्रत्येक प्रान्त में कुछ ऐसे अधिकारी रहते थे, जो सार्वजनिक बातों को लिख लिया करते थे। विद्या का खूब प्रचार था। खास कर ब्राह्मणों और बौद्ध भिक्षुओं ने इसके समय में खूब उन्नति की थी। राज्य की तरफ़ से भी विद्वानों को बराबर प्रोत्साहन मिलता रहता था। हर्षवर्द्धन विद्वानों का आश्रय दाता होने के साथ ही स्वयं भी बड़ा विद्वान् था। प्रत्येक पुरुष अपनी इच्छानुसार धर्म ग्रहण कर सकता था। इस में किसी प्रकार की बाधा नहीं डाली जाती थी। राजा और उसकी बहन स्वयं अन्य मतावलम्बियों की उक्तियों को सुना करते थे।"

फाहियान और हुएनसांग भारतयात्राके अनुवादक बाबूब्रजमोहन लाल जी वर्मा लिखते हैं कि—"हर्ष कालीन भारत में हुएनसाँग आया, यहाँ उसका खूब सत्कार किया गया और हमारे पूर्वजों ने उसे विद्या दान दिया. उसकी मनोवांछित इच्छा को पूर्ण किया;

बालकों को वर्णमाला सिखाते समय पहला वाक्य 'ॐ नमः सिद्धम्' पढ़ाया जाता है, जो जैनों की नमस्कार विधि है। दक्षिण में कई राजाओं ने जैन-धर्मको आश्रय दिया। ......शैवमत के प्रचारकों ने वहाँ जैन-धर्म को बहुत क्षति पहुंचाई, चोल राजाओं ने, जो पीछे शिव के भक्त हो गये थे, जैनधर्म को वहाँ से उठाने के लिये पर्याप्त प्रयत्न किया। राजराज चोल ने मदुरा के मन्दिर में बहुत से शैव साधुओं की प्रतिमायें बनवा कर रखवाईं। कर्नाटक में पहिले चालुक्यों ने जैन-धर्म को बहुत सहायता पहुंचाई थी और दक्षिण के राष्ट्रकूटों के समय (ई० स० ८००—१०००) में जैन-धर्म बहुत उन्नत हुआ था। पिछले चालुक्य राजाओं ने (ई० स० १०००—१२००) शैव-धर्म स्वीकार कर जैनधर्म को वहाँसे उठाने का प्रयत्न किया। जैन-प्रतिमायें उठा कर वहाँ पौराणिक देवताओं की प्रतिमायें फिर से रक्खी गईं। तुंगभद्रा से परे के कर्नाटक प्रदेश में गंग वंशी राजा जैन थे। ग्यारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में चोल राजाओं ने गंग-वंशी राजा को परास्त कर दिया। शनैः शनैः होयसल राजाओं ने गंग-वाडी पर अधिकार कर लिया, वे भी पहिले जैन थे। परन्तु रामानुज ने विष्णुवर्द्धन को वैष्णव बनाकर मैसूर में वैष्णव मत का प्रचार प्रारम्भ कर दिया। इस तरह प्रायः सम्पूर्ण दक्षिण में जैन-धर्म क्रमशः क्षीण होता गया। इस अवनति का मुख्य कारण शैवमत का प्रचार और वहाँ के राजाओं के जैनियों पर अत्याचार ही थे। उड़ीसा में भी शैवमत ने आकर उसके पैर उखाड़ दिये,

इने-गिने ब्राह्मण, क्षत्री और वैश्यों का धर्म रह गया। "जहाँ बुद्ध भगवान् ने आत्मिक उन्नति पर जोर दिया था और सामाजिक संकीर्णता को नष्ट करने की आज्ञा दी थी, वहाँ श्रीशंकराचार्य ने आत्मा को सर्वश्रेष्ठ सत्ता मानते हुये भी व्यवहारिक धर्म की नींव डाली। उसका परिणाम यह हुआ कि ज्ञान-काण्ड तो सब के लिये दुर्लभ होगया और अधिकांश जनता भ्रम मूलक मनुष्य को मनुष्य से दूर करने वाले और रस्म व रीति के पाबन्द वाह्य धर्म के खिलोने को अपने साथ में ले, उसी में कई शताब्दियों तक बहल गई। बौद्ध-धर्म के सिद्धान्तों के विरुद्ध भारतवर्ष की हद वन्दी करदी गई। मानों भगवान् शङ्कर ने चार मठ स्थापित करके सार्वभौमिक हिन्दू-धर्म को भारतवर्ष की चार दीवारी में कैद कर दिया। चाहे उनका यह आशय न हो, परन्तु उनके बाद पुनः स्थापित हिन्दू-धर्म का नित्य नैमित्तिक जीवन अत्यन्त संकीर्ण हो गया और आजतक वही संकीर्णता मौजूद है। इसी संकीर्णता के कारण—संगदिली के सबब—वेदान्त भारत वर्ष का सामाजिक धर्म न होसका।...हमारा वैराग्य निराशा, उदासीनता के रुप में परिवर्तित हो गया और सदाके लिये हम संसार को सराय-फ़ानी (नश्वर) समझ कर कर्तव्य-पथ से विमुख हो गये। हमारे हृदय में यह विचार सदियों तक न उठा कि संसार में दया, सत्य, और ज्ञान का प्रचार करने के लिये उस क्षेत्र के रक्षा की ज्यादह जरुरत थी, जहाँ इनका आविर्भाव हुआ और जहाँ से वे संसार में फैल सकते थे। उन ऋषियों के, संसार-

त्यागी किन्तु संसार के सच्चे उपकारक महात्माओं के विचारों की रक्षा करने के लिये एवं उनको विकसित करने के लिये पहिले देश और जाति की रक्षा करना ज्यादा जरुरी था। यह हम न सीख सके और हमारा ह्रास हुआ। परिणाम हृदय को पीड़ा देने वाला है, यदि हम ज़रा भी सम्हल जाते तो संसार का उपकार करपाते, उसकी सेवा कर सकते"।

तत्कालीन भारत के मुख्य धर्म।

इस प्रकार भारत में जब धार्मिक संकीर्णता ने जोर पकड़ा तब भारत में मुख्यतः बौद्ध, जैन और वैदिक-धर्म की प्रधानता थी। भारतवर्ष का प्राचीन धर्म क्या था, यहाँ इस विवादास्पद विषय को छेड़ने की आवश्यकता नहीं। ईसा की पाँचवी शताब्दी पूर्व जहाँ से कि वर्तमान भारतीय इतिहास प्रारम्भ होता है। भारतवर्ष तीनों ही धर्मों का क्रीड़ास्थलि बना हुआ था। यहाँ संक्षेप में तीनों धर्मों के उत्थान-पतन का विवेचन किया जाता है:—

"शाक्यवंशी राजकुमार गौतम महात्मा बुद्ध ने बौद्ध-धर्म का प्रचार बढ़ाने का बीड़ा उठाया और उनके उपदेश से अनेक

बौद्ध-धर्म

लोग बौद्ध-धर्म ग्रहण करने लगे, जिनमें बहुतसे राजा, राजवंशी, ब्राह्मण, वैश्य आदि भी थे। दिन पर दिन इस धर्म का प्रचार बढ़ता गया और मौर्य-वंशी सम्राट् अशोक के प्रयत्न से धर्म का प्रचार केवल भारतवर्ष तक ही परिमित

नहीं रहा, वल्कि भारत के बाहर लंका तथा उत्तर पश्चिम प्रदेशों में उसका प्रचार और भी वढ़गया। फिर वौद्ध-साधुओं और भिक्षुओं के श्रम से शनैःशनै उसका प्रचार तिब्वत, चीन, मंचूरिया, मंगोलिया, जापान, कोरिया, स्याम, वर्मा और साईवीरिया के किरगिस और कलमुक आदि तक फैल गया। अनेक राजाओं की ओर से संरक्षण पाकर यह धर्म वहुत वढ़ा। समय समय पर वौद्ध भिक्षुओं में मत-भेद होते रहने से वौद्ध-धर्म में भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय उत्पन्न हुये। इन भेदो को दूर करने के लिये वौद्ध-भिक्षुओं की महासभायें भी समय-समय पर होती रहीं, परन्तु ज्यों-ज्यों समय वीतता गया त्यों-त्यों मत-भेद भी वढ़ते गये। चीनी यात्री हुएनसांग के समय में वौद्ध-धर्म के १८ भेद हो चुके थे"।

"पीछे से राज्य का सहारा टूट जाने के कारण वहुत शीघ्रता से वौद्ध-धर्म की अवनति होने लगी और वैदिक-धर्म वहुत तेजी से उन्नति-पथ पर अग्रसर होने लगा, क्योंकि उसे राज्य की भी पर्याप्त सहायता मिल रही थी।...हिन्दुओं ने वुद्ध को भी विष्णु का अवतार मान कर, वौद्ध जनता का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर लिया। दोनों धर्मों में इतनी समानता वढ़ गई कि वौद्ध और हिन्दू-दन्त कथाओं में भेद करना कठिन होगया। इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि लोग वौद्ध-धर्म को छोड़ कर हिन्दू धर्म का, जिसमें सव प्रकार की स्वतंत्रतायें थीं, आश्रय लेने लगे। —...वौद्ध-भिक्षुओं में वाह्य आडम्वर की अधिकता होजाने के

कारण भी जनता की उन पर से श्रद्धा उठती गई। अब बौद्ध भिक्षु वैसे सदाचारी और महात्मा न रहे थे। उनमें भी अधिकार-लिप्सा, धन-लिप्सा आदि दोष आगये थे। वे मठों और विहारों में आराम से रहने लगे थे। उन्हें जनता के सुख-दुखों का अधिक ध्यान न रहा था। इन सब बातों का बौद्ध-धर्म पर बहुत घातक परिणाम हुआ। बौद्ध-धर्म राज्य की सहायता पाकर जिस वेग से बढ़ा था, उसी वेग से राज्य की सहायता न पाने तथा उपर्युक्त बातों से उसका पतन हुआ ❀"।

ईसा की पाँचवीं शताब्दी पूर्व अर्थात् इतिहास काल के प्रारम्भ युग में जैन-धर्म के चौबीसवें तीर्थङ्कर महावीर ने जिस धर्म का

जैन-धर्म

पुनः प्रचार किया, वह जैन-धर्म के नाम से विख्यात हुआ। इसके प्रधान अनुयायी राजा विम्बसार(श्रेणिक) मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त, सम्राट् सम्प्रति, महामेघवाहन खारवेल आदि हुए। इनके उद्योग से देश और विदेश में जैनधर्म का काफी प्रचार हुआ। हर्ष कालीन भारत (सातवीं शताब्दी) में, श्रद्धेय ओझाजी लिखते हैं कि:-"जैनधर्मका प्रचार आन्ध्र तामिल, कर्नाटक, राजपूताना, गुजरात, मालवा, तथा विहार और उड़ीसा के कुछ भाग में था। दक्षिण में ही जैनों ने अपने मत का विशेष प्रचार किया। जैनों ने वहाँ पाठशालायें भी खोलीं। आज भी वहाँ

❀ओझाजी कृत—मध्य कालीन भारतीय संस्कृति पृ० ३-८।

वहाँ के राजाओं ने जैन-धर्म पर अत्याचार कर उसे नष्ट कर दिया * "।

"जब दक्षिण में जैन-धर्म का इस तरह ह्रास हो रहा था, पश्चिम में वह बढ़ने और समृद्ध होने लगा। राजपूताना,

---

* इस रक्त-रंजित शोकोत्पादक धार्मिक कलह का उल्लेख करके मैं पाठकों का हृदय कलुषित करना नहीं चाहता। बौद्ध भारत से निर्वासित कर दिये गये, किन्तु जैन यहीं डटे रहे। उनको खौलते हुये तेल के कढ़ाओं में डाला गया, कोल्हुओं में पेला गया, पर वे मैदान छोड़ कर न भागे और न अत्याचारों से ऊबकर अपने धार्मिक सिद्धान्त ही बदले। इस रोमांचकारी धार्मिक कलह का वर्णन सर्कारी गजेटियरों में विस्तार से मिलता है। जैन-धर्म पर किये गये अत्याचारों का स्मरण, मदुरा (दक्षिण) मीनाक्षी-मन्दिर के स्वर्णकुमुद सरोवर के मण्डप की दीवारों पर अंकित चित्रों के देखने से अब भी हो आता है। इन चित्रों में जैनियों के विकराल शत्रु तिरुज्ञान सम्भाण्ड के द्वारा जैनियों के प्रति किये गये अत्याचारों और रोमांचकारी यातनाओं का चित्रण है। इस करुण कांड का यहीं अन्त नहीं होता। टिन्नेवली ज़िले के मडूरा मन्दिर के बारह वार्षिक त्योहारों में से, पाँच में यह हृदय-विदारक दृश्य प्रति वर्ष दिखलाया जाता है। एक मनुष्य का मस्तक एक कील पर लगा कर गाजे बाजे के साथ निकाला जाता है, तथा इस उत्सव में, किस तरह जैनियों का नाश किया गया, ऐसे तमाशे दिखाये जाते हैं।—गोयलीय

मालवा, और गुजरात में यह बहुत बढने लगा। यद्यपि इन प्रदेशों के राजाभी शैव थे।......गुजरात के सोलंकी राजा कुमारपाल ने जैन-धर्म स्वीकार कर, उसकी उन्नति के लिये बहुत कुछ प्रयत्न किया, जिससे गुजरात, काठियावाड़, राजपूताना और मालवे में जैन-धर्म का बहुत प्रचार हुआ" ❋।

ई० स० ११७४-७६ में कुमारपाल को उसके जैन-धर्म द्वेषी भतीजे अजयदेव ने मार कर गुजरात का शासन ग्रहण किया। इसने जैनों को बड़ी निर्दयता से वध करवाया और उनके गुरुओं को मरवाया। इस प्रकार मुसलमानों के आक्रमण से पूर्व भारत में से जैन राजाओं का अस्तित्व मिट गया, यह केवल राज्यहीन मनुष्यों का धर्म रह गया।

ओझाजी के कथनानुसार बौद्ध और जैन-धर्म के प्रचार से वैदिक-धर्म को बड़ी हानि पहुँची, इतना ही नहीं, किन्तु उसमें

वैदिक-धर्म

परिवर्तन भी करना पड़ा और एक नये सांचे में ढल कर पौराणिक धर्म बनगया। उसमें बौद्ध और जैनों से मिलती जुलती धर्म सम्बन्धी बहुत सी नई बातें प्रवेश कर गईं। इतना ही नहीं, किन्तु बुद्धदेव और ऋषभनाथ की गणना २४ अवतारों में हुई और माँस भक्षण का भी बहुत कुछ निषेध किया गया ⊛। मौर्य-साम्राज्य का अन्त होने पर शुंग वंशी और गुप्तवंशी शासन में वैदिक-धर्म का काफ़ी प्रचार हुआ

❋ मध्यकालीन भारतीय संस्कृति पृ० १३-१५।

⊛ राजपूताने का इतिहास प्रथम खण्ड पृ० ११।

और सातवीं शताब्दी में बौद्ध-धर्मि हर्षवर्द्धन राजा की मृत्यु के पीछे तो सदैव के लिये यह राज्य-धर्म बन गया। हिन्दू-धर्म का ज्यों-ज्यों पुनः प्रचार बढ़ता गया, त्यों-त्यों उसमें भिन्न-भिन्न आचार्यों ने धार्मिक सम्प्रदाय भी बनाने शुरु किये।

इस प्रकार जब भारतवर्ष में धार्मिक विप्लव हुआ, तब भारत में चारों ओर गृह-कलह का ताण्डव नृत्य होने लगा। धार्मिक असहि-

पराधीन होते समय धार्मिक और राजनैतिक स्थिति

ष्णुता का साम्राज्य छा गया। ज्ञान प्राप्त करने का पट्टा केवल एक विशेष जाति के नाम लिखा गया। भारत का अधिकांश अंग शूद्र बनाकर पृथक कर दिया गया, वैश्य जाति का धनोपार्जन के सिवा और कुछ कर्तव्य नहीं रहा और क्षत्रियों का कार्य केवल लड़ना रह गया। इस प्रकार क्षत्री, वैश्य, शूद्र जब ज्ञान से वंचित होने लगे, तब यहाँ अज्ञानता का साम्राज्य छा गया। लोग अज्ञानता पाप-पङ्क में फँस कर पथ-भ्रष्ट हो गये। कितने ही नवीन धर्मों के उत्पादक बन बैठे। धर्म क्या था, गोया स्वार्थ-सिद्ध करने की दुकानें लगी हुई थीं। एक-एक कुटुम्ब में दो-दो दर्जन मजहबों का प्राबल्य था। एक गणेश का पुजारी, तो दूसरा सूरज का, तीसरा शिवजी का, तो चौथा विष्णु का, पाँचवाँ राम का भक्त, तो छठा भैरोंजी का श्रद्धानी, सातवाँ हनुमान का उपासक, तो आठवाँ कृष्ण की मुरली पर आसक्त, नवाँ ब्रह्माजी पर, दसवाँ दाऊजी का मजनूँ, ग्यारहवाँ काली का, तो बारहवाँ भगवती का भक्त, तेरहवाँ चामुण्डा का; तो चौद-

हवाँ शीतला माता का, पन्द्रहवाँ अग्नि का तो, सोलहवाँ चान्द का, सत्रहवाँ पार्वती का, तो अठारहवाँ गंगा-यमुना का सेवक, उन्नीसवाँ तुलसी का, तो बीसवाँ पीपल का, इक्कीसवाँ नागों का, तो बाईसवाँ बन्दरों का, तेईसवाँ भूत प्रेतों का, तो चौबीसवाँ नीलकंठ का भक्त एवं शैदाई बना हुआ था। तात्पर्य्य यह है कि कोई शैव, कोई वैष्णव, कोई रामानन्दी, कोई भजनानन्दी, कोई पौराणिक, कोई वेदान्ती, कोई द्वैतवादी, कोई अद्वैतवादी, कोई ईश्वरवादी, कोई अनीश्वर वादी, कोई मीमांसक, कोई सांख्य कोई वैशेपिक, तो कोई क्रिया-कर्म-काण्डी। ग़रज यह है कि उन दिनों मनुष्य संख्या थोड़ी किन्तु देवता पूरे ३३ करोड़ थे और अनगिन्ती मज़हब थे।

धर्मों में भिन्नता होती, तो भी कुछ विशेष हानि नहीं थी। पर यहाँ तो तुर्रा यह है कि विरोध और द्वेष ने घर किया हुआ था। छोटे से छोटे विवाद का फैसला तलवार से होता था। भाई-भाई के रक्त का प्यासा बना हुआ था। यही क़ारण था कि भारत की एक भापा नहीं थी कोई ऐसा धार्मिक संगठन नहीं था, जहाँ सब एकत्रित हो सकें, इन कारणों से उस समय के भारतियों का जातीय संगठन ढ़ीला पड़ चुका था। मेवाड़ को मारवाड़ से, बुन्देलखंड को संयुक्तप्रान्त से, बंगाल को पंजाब से, मद्रास को गुजरात से, एक प्रान्त को दूसरे प्रान्त से—अथवा एक राज्य को दूसरे राज्य से और एक जाति को अन्य दूसरी जाति से कोई सहानुभूति न थी। भारत विद्रोहानल, धार्मिक कलह, गुरुडमवाद,

पापाचार से मिटा जा रहा था। किन्तु सभी अपनी-अपनी रागनी और अपने अपने साज में मस्त थे। किसी को एक दूसरे पर विश्वास नहीं था।

जिनका धर्म एक न हो, न्याय एक न हो, भाषा एक न हो, चारित्र एक न हो, परलोक एक न हो, उद्देश्य एक न हो, वह जाति क्योंकर और कबतक स्वतंत्र और सुखी रह सकती है? उस समय के भारतियों के रीति-रिवाज़ पृथक, मूर्तियों के आकार पृथक, मालाओं के दाने भिन्न२ प्रकार के, माथे के चन्दन जुदा, गरज़ हर बात में एक दूसरे से भिन्न थे।

सम्राट् हर्षवर्द्धन की मृत्यु (ई० स० ६४८) के उपरान्त भारत की यह धार्मिक अवस्था थी। और राजनीतिक अवस्था इससे भी अधिक शोचनीय थी। हर्ष की मृत्युके पीछे भारतमें कोई ऐसा प्रतापी राजा नहीं हुआ, जो उत्तर भारत को अपने अधीन रख सके। देश छोटे-छोटे राज्यों में बँट गया, इनकी संख्या इतनी थी कि, अब प्रायः दो सौ वर्षका (आठवीं और नवमीं सदियों का) पूरा पूरा पता भी नहीं चलता। दक्षिण की अवस्था भी उत्तर भारत जैसी थी।

इस में कोई सन्देह नहीं कि इन लड़ाई झगड़ों के होते हुये भी देश में आभ्यन्तरिक शान्ति थी, लोग चैन से दिन काटते थे। इन सदियों में अनेक आचार्य, कवि, विद्वान्, पराक्रमी हुये, साहित्य-विज्ञान, आदि की भी खूब उन्नति हुई, पर भारतीय एक बात में चूक गये! एक छत्र साम्राज्य स्थापित न करके छोटे-छोटे

राज्यों में स्वत्रंता पूर्वक जीवन व्यतीत करते रहे! यह आनन्दोल्लास प्रकृति को सह्य न हुआ और उसने भारत पर आपत्ति की घनघोर घटा फैला दी।

इन्हीं दिनों में जब कि भारत-वर्ष गृह-कलह और सम्प्रदायवाद के कारण जर्जरित हो रहा था, उसके निवासी विलासिता,

भारत की परतन्त्रता

अहंकार आदि में फँसे हुये थे। छूआ-छूत के भेद ने आधे भारतीय असस्पृश्य कर दिये थे, मानों वह भारत के कुछ थे ही नहीं। कुछ क्रिया-काण्ड और गुरुडमवाद में जीवन खो रहे थे, कुछ अध्यात्मवाद की रट लगा कर जीवन-मुक्त होने का स्वप्न देख रहे थे, कुछ उदर पूर्ति की साधना में अपनी ज़िन्दगी के दिन व्यतीत कर रहे थे, कुछ ऐसे साधु, महात्मा, लेखक, कवि आदि थे, जो भारत में रहते हुये भी भारत के सुख-दुख से उन्हें कोई सरोकार नहीं था। बाक़ी बचेहुये ज़रू जोरू, ज़मीन पर झगड़ा करने में अपने पराक्रम का परिचय दे रहे थे। एक राजा दूसरे राजाओं की बलात् कन्या अथवा प्रदेश अपहरण करके उनको शत्रु बना लेता था। ज़रा सी बात का फैसला तलवार के बल पर होताथा। कुसूर किसी पक्ष का हो या न हो, दोनों ओर के लाखों वीर देखते देखते बात की बात में कट मरते थे। तभी यहाँ विदेशियों के आक्रमण हुये।

आक्रमण तो विदेशियों के यहाँ सदैव होते रहे हैं, भारत को सोने की चिड़िया समझ कर सभी ने इसके बाल और पर

नौचने का प्रयत्न किया है। परन्तु स्थायी रूप से भारत के शासन की बागडोर विदेशियों को सन् ११९३ में से प्राप्त हुई। इस से पूर्व आक्रमणकर्त्ताओं के यहाँ पाँव न जम सके। यदि राजनैतिक परिस्थियों के प्रतिकूल होने पर शक, हूण, ग्रीक आदि विदेशीय जातियों ने यहाँ शासन किया भी तो, उनको भारतीय संस्कृति में ढाल कर हज़म कर लिया, उन विदेशीय जातियों को अपनाकर भारतीय बना लिया। किन्तु इस आक्रमण काल में भारतियों की पाचन शक्ति नष्ट हो चुकी थी। वर्ण-व्यवस्था, छूत-छात, नीच-ऊँच के भेदने उनके विशाल उदर में अजीर्ण कर दिया था। उस समय भारतीय औरों को क्या खाक हज़म करते, अपनों को ही दुर-दुर कर रहे थे। कुत्ते बिल्ली की तो उनके दिलों में इज्जत थी, पर उनसे जो भारत माता की कूख में सोये हैं, यहाँ का गंगा जल पीकर बड़े हुये हैं। जिनमें आर्यों का पवित्र रक्त हिलोरें मार रहा था, उनसे घृणा थी, झूठे जातिमद ने भारतियों की बुद्धि को नष्ट कर दिया था।

मुसलमानों के आक्रमण कब और कैसे हुये, इससे पूर्व इस्लाम की उत्पत्ति कैसे हुई, वह एक छोटे से देश में जन्म पाकर समस्त संसार में—पानी में मट्टी के तेल के समान-क्योंकर फैलता गया; प्रथम इसका दिग्दर्शन करा देना आवश्यक प्रतीत होता है।

इस्लाम की उत्पत्ति

जब अरब-निवासी अन्धविश्वास में फँस कर दुराचार मय जीवन व्यतीत कर रहे थे। उनकी शारीरिक शक्ति अपने ही देश-वासियों को सताने में और मानसिक

शक्ति व्यर्थ की ऊट-पटाँग बातों के गढ़ने में ख़र्च हो रही थी। छोटे-छोटे कबीलों में समस्त अरब विभक्त था। तब ऐसे नाज़ुक समय (ई० स ० ५७ ०) में कुरैशवंशीय अब्दुल्ला के यहाँ हज़रत मुहम्मद का जन्म हुआ। बाल्य-काल में ही माता-पिता की मृत्यु हो जाने के कारण इनका लालन-पालन चचा अबुतालिब के यहाँ हुआ। ४२ वर्ष तक हज़रत व्यापार करते रहे। व्यापार के सम्बन्ध में यत्र-तत्र आने जाने के कारण उन्हें भिन्न-भिन्न धर्मों, जातियों और देशों की आन्तरिक अवस्था का अध्ययन करने का काफ़ी अवसर मिला। उन्होंने देखा कि यदि अरब-वासी एक धार्मिक झँडे के नीचे एकत्रित हो सकें, तो इनकी शारीरिक और मानसिक शक्ति का पूर्ण विकास हो सकता है।

उन दिनों अरब में जहाँ अनेक कुरीतियाँ थी, वहाँ मूर्तिपूजा का भी अत्यन्त प्रचार था। ३६० प्रकार की मूर्तियाँ ईश्वर के स्थान पर पूजी जाती थीं। इस मूर्ति-पूजा के कारण पोपडमवाद का बोल बाला था, अतः हज़रत ने मूर्तिपूजा के विरोध में ही सबसे प्रथम आवाज़ उठाई और उस समय की परिस्थिति को सुधारने में देश, काल की सुविधानुसार जिन-जिन उपायों की आवश्यकता समझी, उनको ख़ुदा का सन्देश बता कर सर्व-साधारण में प्रचार करना प्रारम्भ कर दिया।

शुरू शुरू में अन्य सुधारकों की भान्ति इन्हें भी अनेक आपत्तियोंका सामना करना पड़ा। लोगों ने इनकी खूब खिल्ली उड़ाई, दुर्व्यवहार किया; प्राण लेने का प्रयत्न किया और अन्त में

तंग आकर हज़रत को अपने चन्द अनुयाइयों के साथ ई० स० ६२२ में अपना जन्मस्थान (मक्का) छोड़ना पड़ा। यहीं से मुसलमानों का प्रसिद्ध हिजरी संवत् प्रारम्भ होता है। तब उन्होंने मदीने में, जहाँ वहुत से नेस्टर पन्थी और यहूदी रहते थे, विश्राम लिया। मक्का त्यागने से पूर्व अपने धार्मिक विश्वासों का प्रचार करने के लिये, हज़रत त्याग, सहन शीलता, उत्साह और योग्यता को ही सब कुछ समझते थे, किन्तु हिज़रत (मक्का त्यागने) के बाद उन्हें यक़ीन हो गया कि लड़ाकू जातियों की दृष्टि में शान्ति का पैग़म्बर भीरु और कायर समझा जाता है। वीरता के उपासक वीर की ही पूजा करने को बाध्य किये जा सकते हैं। अतः उन्होंने अपनी नीति में परिवर्तन किया। शस्त्र-प्रयोग ही धार्मिक प्रचार का उत्तम साधन बनाया और आश्चर्य तो यह है कि इस नीति में उन्हें आश्चर्य जनक सफलता प्राप्त हुई। हज़रत का कथन था कि "बिहिश्त तलवार के साये के नीचे पाया जगाया"।

मुहम्मद साहब ने अपने जीवन में २४ युद्ध स्वयं अपने सेनापतित्व में और ५-६ दूसरों की अधीनता में किये। और कुल १ लाख १४ हज़ार स्त्री-पुरुषों को मुसलमान बनाया। मृत्यु-समय (ई० स० ६३२) उनकी आयु ६३ वर्ष की थी।

मुहम्मद साहब की मृत्यु के पश्चात् उनके उत्तराधिकारियों ने जो कि ख़लीफ़ा कहलाते थे, हज़रत के चलाये हुये नवीन धर्म (इस्लाम मज़हब) का अत्यन्त उत्साह से बड़े वेग के साथ प्रचार करना प्रारम्भ किया। जब अरब के रहने वाले सब मुसलमान

हो गये, तो उनका हौसला वढ़ गया। योग्य सेनापतियों के नेत्रत्व में अरब की सेनायें दो तरफ़ को वढ़ने लगीं। इधर फ़ारस, अफ़गानिस्तान और भारतवर्ष की ओर, उधर मिश्र, उत्तरीय अफ्रीका, स्पेन और फ्रान्स की ओर। फ़ारस और मिश्र ने भी एक दो युद्ध करने के वाद इस्लाम धर्म ग्रहण कर लिया। केवल थोड़े से फ़ारसके शाही घराने के मनुष्य वहाँ से निकल कर भारत में आ वसे जो वर्तमान में पारसी कहलाते हैं। तात्पर्य्य यह है कि इन फौजों ने देश पर देश जीतने प्रारम्भ कर दिये और १०० वर्ष के अन्दर ही अन्दर फ़ारस, तुर्किस्तान, अफ़गानिस्तान और आसपास के सारे देश मुसलमान हो गये।

इस्लाम की विजय

विजयोल्लासी मुसलमान की दृष्टि भारत पर भी पड़ी। प्रारम्भ में दो-तीन आक्रमण वीर राजपूतों की अभूतपूर्व आहुतियों के कारण असफल हुये, पर जिनके हृदय इस्लाम को विश्वव्यापी और विश्वविजयी करने के लिये समुद्र की भान्ति उमड़ रहे हों, वे वीर इन असफलताओं की ओर दृष्टिपात कव करने वाले थे?

सिन्ध पर आक्रमण

अतः कई आक्रमणों के असफल हो जाने पर भी, दुगने उत्साह से ई० स० ७१२ में पुनः अवुल (मुहम्मद विन) कासिम के नेत्रत्व में असंख्य मुस्लिम सैनिकों ने सिन्ध पर आक्रमण किया, सिन्ध स्थित वीर राजपूतों ने अत्यन्त वीरता से इस आक्रमण को रोका और लड़ते लड़ते एक एक करके कट कर के मर गये,

और स्त्रियाँ बड़ी भारी चिता तैयार करके उसमें भस्मीभूत हो गईं *। जीते जी सिन्ध पर अधिकार न होने दिया, फिर भी भारतियों की राजनैतिक दुर्बलताओं के कारण विजय-लक्ष्मी मुसलमानों से ही प्रसन्न हुई, किन्तु ४० वर्ष के अनन्तर (ई० स० ७५० में) मुसलमानों को निकाल कर सिन्ध पर पुनः हिन्दुओं ने अधिकार जमा लिया। और दसवीं शताब्दी तक फिर किसी विदेशीय जाति का यहाँ अधिकार न होने दिया।

---

* इस युद्ध में सिन्ध का बड़ा राजा दाहर था। जब वह रण-क्षेत्र में मारा गया तो उसकी दो कन्यायें मुस्लिम सेनापति क़ासिम के हाथ पड़ गईं। उसने उनको उपहार स्वरूप ख़लीफ़ा के पास भेज दिया। जब वे ख़लीफ़ा के पास पहुँचीं तो रोने लगीं। कारण पूछने पर बोलीं कि "तुम्हारे सेनापति ने पहिले ही सतीत्व भंग करके, हमें तुम्हारे अयोग्य कर दिया है"। ख़लीफ़ा ने इसे अपना अपमान समझकर क़ासिम के शरीर में भुस भरवा दिया। जब कन्याओं ने अपने देश के घातक से बदला ले लिया तो यथार्थ बात कहदी और ख़लीफ़ा के देखते देखते ज़हर खाकर प्राणोत्सर्ग कर दिये। यह कन्यायें अपने कुल-नाश का प्रतिकार लेने के लिये ही जीवित बची रहीं थीं।

सीमान्त प्रदेश पर प्रतिदिन अफ़ग़ानों की लूटमार से तँग आकर पंजाब के राजा जयपाल ने ग़जनी (अफ़गानिस्तान की राज-धानी) पर ई० स० ९७९ में आक्रमण तो कर दिया, किन्तु पर्वतों पर पड़ने वाली बरफ़, मार्ग की अनभिज्ञता और युद्ध-यात्रा की यथेष्ट सामिग्री के अभावके कारण जयपाल को पराजित होना पड़ा, यही नहीं बल्कि गजनी--नरेश सुबुक्तगीन ने पंजाब पर आक्रमण करके पेशावर में अपना सैन्यावास क़ायम कर दिया। और इस प्रकार अनायास ही बाहरी आक्रमणों के लिये भारत का मार्ग खुल गया। ई० स० ९९७ में सुबुक्तगीन की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र महमूद १ वर्ष की अवस्था में राज्यारूढ़ हुआ।

महमूद ग़ज़नवी का आक्रमण

महमूद ग़ज़नवी के हृदय में भी धन-लोलुपता और इस्लाम को विश्वव्यापी बनाने की उत्कट अभिलाषा थी। वह अपने लोभ को सँवरण न कर सका और मार्ग की अनिवार्य बाधाओं की कुछ भी चिन्ता न करके भारत पर आक्रमण करने का दृढ़ संकल्प कर लिया। उसने ल मिला कर भारतवर्ष पर १७ आक्रमण किये, सब से पिछला आक्रमण ई० स० १०२५ में किया और इसी आक्रमण में इसने सोमनाथ के मन्दिर को लूट कर कई करोड़ की सम्पत्ति हस्तगत की थी।

महमूद ग़ज़नवी के आक्रमणों को प्रत्येक प्रान्त के भारतीय शासकों ने अपने अपने स्थान पर रोकने का भरसक प्रयत्न

किया, यहाँ तक कि कई राजपूत राजाओं ने युद्ध में उसके दान्त खट्टे कर दिये, किन्तु परस्पर एक प्रान्त को दूसरे प्रान्त से सहानुभूति न होने के कारण आपसी द्वेष और अल्प-संख्यक होने के कारण अन्त में पराजित ही होते गये। जिन प्रान्तों और नगरों पर उसने आक्रमण नहीं किया, वहाँ के शासक निश्चिन्त बैठे रहे—पड़ोस में आग लगने पर निश्चिन्त बैठे रहने पर जो परिणाम होता है—इसकी ओर से वह जान बूझ कर अनभिज्ञ बने रहे। कुछ ने युद्ध में पराजित करके भी उसे चुपचाप आगे बढ़ जाने दिया। महमूद ग़ज़नवी के लगातार इन १७ आक्रमणों से उस समय की भारत की शोचनीय और दयनीय दशा का पूर्ण साधन न होते हुये भी भली भाँति ज्ञान हो जाता है।

भारत के मार्गों रीति-रिवाजों और भाषाओं से अनभिज्ञ होते हुये भी वह इतनी दूर से आक्रमण करके भारत में घुसता चला आया और मनमानी लूट-मार करके वह ससैन्य सानन्द ग़ज़नी पहुँच गया; यह उस समय के भारतियों की अकर्मण्यता का ही द्योतक है। यदि भारतवासी चाहते तो एक भी सैनिक उसका बच कर यहाँ से न जा पाता। हा! "पराजित देश से श्मशान देश अच्छा" यह भी करते किसी से न बना। मार खाते हुये गाय की तरह डकराते रहे, वीर राजपूत अपने अपने स्थान से मंत्र कीलित साँप की तरह फुफकारते रहे, और आलसी केहरी की भाँति अपनी अपनी माँद से गुर्राते रहे, पर मिलकर हमला न किया।

महमूद को भारत पर शासन करने का ख़याल ही न आया; वह तो यहाँ की अनन्त रत्न-राशि को देख कर चकाचौन्ध होगया और अपने प्रत्येक आक्रमणों में यहाँ से असंख्य धन-राशि ग़ज़नी को ले गया। साथ ही भारतवर्ष पर पुनः सुगमता पूर्ण आक्रमण हो सके, इस विचार से पंजाव प्रान्त का कुछ भाग अपने अधिकार में कर के वहाँ अपना प्रतिनिधि छोड़ता गया। ई० स०१०३० में गजनी में उसकी मृत्यु हो गई ।

भारत का अन्तिम हिन्दू-सम्राट्

जिस प्रकार दीपक बुझने से पूर्व, एक वारगी प्रज्वलित हो उठता है, ठीक उस ही प्रकार भारतवर्ष भी एक समय उन्नति की चरम सीमा को पहुँच चुका था। यह उन्नति शील देश उन समस्त देशों की आँखों में खटकने लगा था, जो अभी तक असभ्यता, मूर्खता, दरिद्रता और गृह-क्लेश के कारण दुःखों के केन्द्र बने हुये थे। सातवीं शताब्दी तक भारत का मध्यान्ह काल था, उसके भाग्याकाश में उन्नति-सूर्य अपनी प्रखर आभाओं से संसार को चकाचौंध कर रहा था। धार्मिक विप्लवों की प्रलयंकारी घटाओं के घिरते ही उसने मन्द गति से अस्ताचल की ओर प्रस्थान कर दिया। भारत के इस सान्ध्यकाल में (८ वीं सदी से १२ वीं सदी तक) अनुकूल परिस्थिति पाकर मुसलमानों के कई आक्रमण हुये, परन्तु वे यहाँ अधिकार न जमा सके, और इस प्रकार इस सान्ध्यकाल के ५०० वर्षों में भी भारतवासी यथेच्छ स्वतंत्रता का उपभोग करते रहे, किन्तु

सन्ध्या के बाद आपत्तिरूप निशा का प्रवेश अवश्यम्भावी था। "सब दिन होत न एक समान' प्रकृति के इस कठोर नियम को तोड़ने की किसमें सामर्थ्य थी? भारत की स्वतंत्र रंगभूमि में पराधीन अपना कृष्ण परिधान लपेट कर थिरक उठी।

देहली में चौहानवंशी पृथ्वीराज की राजधानी थी। यह अत्यन्त पराक्रमी शूरवीर था। इसने कई राजाओं की कन्यायें बलात् छीनकर विवाह किये। जिससे वे सब राजा इसके घोर शत्रु हो गये और इन युद्धों में कितने ही हज़ार बाँके योद्धा इसके नष्ट हो गये। प्रजा इन आये दिन के युद्धों से परेशान थी और बचे खुचे सैनिक जीवन भर लड़ते-लड़ते उकता गये थे।

इन्हीं दिनों कन्नोज में जयचन्द्र राठौड़ राज्य करता था, यह वीरता में न सही, पर वैसे पृथ्वीराज से समृद्धिशाली था।

पृथ्वीराज और जयचन्द्र-संघर्ष

कुछ इधर उधर के प्रदेश जीत लेने पर इसे 'राजसूययज्ञ' करके चक्रवर्ती पद प्राप्त करने की सनक सवार हुई। किन्तु खेद है कि जब-जब भारत में इस यज्ञ का आयोजन किया गया, तब-तब भारत के विनाश का सूत्र-पात प्रारम्भ हुआ। भारत के भिन्न-भिन्न राजाओं को इस यज्ञ में आने के लिये जयचन्द ने अपनी अत्यन्त रूपवती कन्या संयोगिता के स्वयंवर का भी प्रलोभन दिया। यज्ञ के यश और संयोगिता पाने की लालसा ने राजाओं को कन्नोज खींच लिया।

किन्तु राठौड़ राजकुमारी संयोगिता, पृथ्वीराज के बल-पराक्रम के बहुत गीत सुन चुकी थी, वह वीरता की उपासक थी। उसने अपने हृदय मन्दिर में पृथ्वीराज को प्रतिष्ठित करके उसे वरण कर लिया था। किन्तु जयचन्द पृथ्वीराज की मावसी का पुत्र होते हुये भी उससे ईर्ष्या करता था, वह पृथ्वीराज को इस यज्ञ में द्वारपाल का कार्य देना चाहता था, किन्तु इस अपमान कारक कार्य की पृथ्वीराज से आशा ही क्योंकर की जा सकती थी? अतः द्वारपाल के स्थान पर पृथ्वीराज की मूर्ति बना कर रखवा दी गई। यह भेद पृथ्वीराज ने भी सुना और वह अपने चुने हुये योद्धाओं को लेकर छद्म वेष में स्वयंवर में जा पहुंचा।

संयोगिता सब नरेशों को साम्यदृष्टि से देखती हुई स्वयंवर के द्वार पर आई और वहाँ पृथ्वीराज की मूर्ति को वरमाला पहनादी। पृथ्वीराज ने जब यह देखा तो संयोगिता को पत्नी समझ, झपट कर घोड़े पर बिठला कर उड़ लिया। जयचन्द्र और अन्य नरेश इस अपमान को सहन न कर सके। एक साथ म्यानों से तलवार चमक उठीं और देखते देखते पृथ्वी रक्त से तरबतर हो गई और इस प्रकार रही सही भारत की रीढ़ की हड्डी तोड़ने को भारत में महाभारत का यह दूसरा चर्का और लगा।

संयोगिता पाकर पृथ्वीराज संयोगिता-वैतरणी में दिन-रात डूबे रहने लगे। दरवाजे के बाहर क्या हो रहा है, यह जानने के लिये उसके पास जानकारी ही न थी।

जयचन्द को यह अपमान असह्य हो उठा, वह आत्म-ग्लानि से छटपटा उठा, मानसिक दारुण दुःख ने उसे प्रतिहिंसा के लिये मजबूर कर दिया। उसने ककड़ी के चोर को कटार मारने का निश्चय कर लिया, कलियुग में सतयुगी विभीषण की भूमिका लेकर वह भारत के रंग-मंच पर उतरा।

गजनी और गौर वंशों में सदैव युद्ध हुआ करता था, अन्त में गौरवंश की विजय हुई। इसी वंश में मुहम्मद शहाबुद्दीन

मुहम्मद गौरी की भारत-विजय

नामक बादशाह हुआ, यह भी भारतवर्ष के लिये, लालायित था, किन्तु रण-केसरी पृथ्वीराज के सामने इसको दो बार परास्त होना पड़ा था* और पृथ्वीराज की दया× पर ही उसे दो बार प्राण दान मिला था! फिर भी भारत की ओर उसकी ललचाई आँखें लगी हुई थीं। ऐसे ही अवसर पर भारत पर आक्रमण करने के लिये जयचन्द्र का निमंत्रण पहुँचा। निमंत्रण पढ़ते ही

---

* शहाबुद्दीन ने पहला आक्रमण ११९१ ई० में किया था, थानेश्वर में वह बुरी तरह पराजित हुआ। राजपूतों ने ४० मील पर्यन्त उसको खदेड़ा, इस अपमान से दुःखी होकर शहाबुद्दीन ने अपने सरदारों के गलों में तोबड़े बन्धवाकर और गदहों की उपाधि देकर उन्हें तिरस्कृत किया था।

× यह दया नहीं, पृथ्वीराज की राजनैतिक भूल थी। दया क्या है, इसके लिये देखो 'अहिंसा और कायरता" नामकी पुस्तक, जो शीघ्र छपेगी।

ई० स० ११९३ में शहाबुद्दीन ने भारत पर आक्रमण कर दिया। उसने काँटे को काँटे से निकालना और ज़हर को ज़हर से मारना उचित समझा। दो सिंहों के विवाद में शिकार को झपट लेना तीसरी शक्ति का जन्मसिद्ध अधिकार है। शहाबुद्दीन गौरी इस अचूक अवसर से कब चूकने वाला था?

शहाबुद्दीन गौरी के आक्रमण को सुन कर मेवाड़-नरेश, पृथ्वीराज की सहायता के लिये मेवाड़ से चल कर दिल्ली आगये, किन्तु पृथ्वीराज लड़ाई के लिये तो क्या, उनकी अगुवानी के लिये भी अन्तःपुर से न निकला। यह मेवाड़-नरेश का भारी अपमान था, इनके स्थान पर शायद और नरेश होता तो, क्रुद्ध हो जाता और यूं अनायास ही यह दूसरा कौरव-पाण्डव युद्ध हो जाता, किन्तु यह सूर्यवंशी राणा थे। वह जानते थे, कि भारत इस समय कैसी नाज़ुक परिस्थिति में से गुज़र रहा है। संसार के राजनैतिक समुद्र में तूफ़ान आया हुआ है, नाविक के ज़रा चूकते ही भारतीय जहाज समुद्र के अन्तस्थल में विलीन हो जायगा। भारत की लाज आज भारत-पुत्रों के हाथ में है। आपस में लड़ना मानों मौत का अह्वानन करना है।

अतः उन्होंने वाक्-चातुर्यता और मीठी मीठी थपकियाँ देकर अन्तःपुर से भारत के उस सोते हुये शेर को निकाला। मेवाड़-नरेश की वात्सल्य मूर्ति देख कर पृथ्वीराज की मोहनिद्रा दूर हुई, वह बड़े वेग से राणाजी को संग लेकर पानीपत के पास जाकर गौरी की फौज पर बाज़ की तरह झपट पड़ा। किन्तु

भाग्य भारत के प्रतिकूल बह रहा था, उसकी कोख में खेले हुये जयचन्द् जैसे कुलंगार कुठाराघात कर रहे थे। पृथ्वीराज के दरबार में रहने वाला धर्मायन कायस्थ गुप्तरूप से गौरी को इधर के सन्देश भेज रहा था। अतः परिणाम वही हुआ, जो घर के भेदी के कारण होता है। पृथ्वीराज और मेवाड़-नरेश युद्ध में वीर-गति को प्राप्त हुये और उनकी रानियाँ उनके साथ चिता में जलकर सती हो गईं।

मुसलमानों की विजय-पताका दिल्ली में फहराने लगी और भारत की ध्वजा पुर्जे पुर्जे करदी गई॥। काश पृथ्वीराज बहु विवाह न करता और भारत के भिन्न२ राजाओं से बनाये रखता, अथवा उनको दबाकर शक्तिशाली साम्राज्य स्थापित किया होता तो, भारत की आज यह दशा होती या नहीं, यह तो सर्वज्ञ ही जानें, पर पृथ्वीराज का इतिहास में और ही स्थान होता, भारत-पतन के साथ उसका नाम न लिया जाता। भारत-वीरों में वह आस्मान पर सितारे की भाँति चमकता हुआ होता और आज उस पर प्रत्येक भारतवासी को गर्व होता।

देहली-विजय करने पर ११९४ ई० में शहाबुद्दीन ने कन्नौज पर आक्रमण किया, पहिले तो जयचन्द्र जान तोड़ कर लड़ा, पर अन्त में नांव पर बैठ कर भाग निकला, किन्तु ऐसे देश-द्रोही

॥—जाहि देख फहरत गगन, गये काँपि जग-राज।
सो भारत की जय-ध्वजा परी धरातल आज॥

—वियोगीहरि

के परमाणु अन्यत्र न फैल जाँय, मानों इसी भय से नाँव उसको गंगा में लेकर अनन्त काल के लिये बैठ गई।

देश-द्रोह जाति-द्रोह की गन्ध अब भी भारतवासियों में से आती है, यही बातें प्रकट करती हैं कि हमारा कितना नैतिक पतन हुआ है। हम अन्य देशों के समक्ष इस दुराचार के कारण सीना तान कर खड़े होने की अभी क्षमता नहीं रखते।

देहली और कन्नौज शहाबुद्दीन ने हस्तगत किये, पर वीर राजपूतों ने विदेश और विधर्मी बादशाह के अधीन रहना पाप समझा। वे अपने निवास्थानों को छोड़-छोड़ कर सपरिवार अन्यत्र चले गये, जो कि अब राजपूताना नाम से प्रसिद्ध है। मुहम्मद गोरी ने लगभग सारे उत्तरीय भारतवर्ष को जीत लिया और उसके सेनापति बख्त्यार खिलजी ने ११९९ ई० में अवध और बिहार को तथा १२०३ ई० में बंगाल को भी जीत लिया।

सिंहावलोकन

महाभारत से पूर्व भारत कैसा सुहावना, सुखी, समृद्धिशाली था—इस सम्बन्ध में जैन, बौद्ध और वैदिक पुराण

आर्य-शासन का अन्त

ग्रन्थ काफी प्रकाश डालते हैं। किन्तु इस युग का अभी तक ऐतिहासिक दृष्टि से विवेचन नहीं हो पाया है। ऐतिहासिक दृष्टि से आर्य-शासन की रंगभूमि का पर्दा महाभारत से उठकर अन्तिम हिन्दू सम्राट् पृथ्वीराज की मृत्यु के साथ गिरता है। अतएव पिछले पृष्ठों में इसी का संक्षेप में दिग्दर्शन कराने के बाद प्रस्तुत पुस्तक का "आर्यकालीन भारत"-प्रथम खण्ड समाप्त हो जाता है। आर्यों के इस ४००० वर्ष के शासनकाल में अनेक उत्थान और पतन हुये। भारत को सोने की कान सुनकर कितने ही विदेशियों ने आक्रमण करके, यहाँ की सुख-शान्ति को नष्ट कर दिया, सोने का भारतवर्ष मिट्टी में मिला-दिया, और अन्त में रही सही स्वतंत्रा हरण करके इसे नर्कतुल्य बना दिया।

१— सब से प्रथम ई० पू० ३२७ में यूनानी सिकन्दर ने भारत पर आक्रमण किया; किन्तु यह पंजाब की सतलुज नदी से वापिस लौट गया, इसके अधिकृत भारतीय प्रदेशों को चन्द्रगुप्त मौर्य ने ई० पू० ३०३ में हस्तगत कर लिये।

२—यवनराज दिमेत्र ई० पू० १८४ में मगध तक घुसा चला गया, किन्तु पुष्यमित्र और खारवेल ने इसे भारत से खदेड़ दिया।

३—शक उज्जैन में राज्य करने लगे थे, किन्तु ई० स० ३९० में विक्रमादित्य ने उनको राज्य-शक्ति नष्ट करदी।

४—कुशन, हूण ई० स० ४०० में भारतवर्ष के पश्चिम भाग पर राज्य करने लगे थे, परन्तु उन्हें भी पाटलिपुत्र के स्कन्दगुप्त, मन्दसौर के विष्णु-वर्द्धन, और थानेश्वर के प्रतापवर्द्धन ने चैन से नहीं बैठने दिया।

५—सिन्ध का नाश ई० स० ७१२ में मुहम्मद क़ासिम ने किया, किन्तु ४० वर्ष के अनन्तर मुसलमानों को परास्त कर, सिन्ध फिर स्वाधीन हो गया।

६—पंजाब का उच्छेद महमूद ग़ज़नवी ने ई० स० १००६ में किया, किन्तु वह भारत में साम्राज्य स्थिर न कर सका।

७—उत्तर-भारत का उच्छेद अथवा आर्य-शासन का अन्त शहाबुद्दीन ग़ोरी ने ई० स० ११९३ में किया। और तभी से भारत परतन्त्रता के बन्धन में सदैव को जकड़ा गया।

राम, अर्जुन, भीम जैसे योद्धाओं को जन्म देनेवाले भारत पर, यह उत्तरोत्तर निरन्तर आक्रमण क्यों होते रहे, इस देश

परतन्त्रता और अहिंसा

पर विदेशियों को आक्रमण करने का मौक़ा कैसे मिला—सिंहों की माँद में घुसने का साहस उन्हें कैसे हुआ? यह एक विचारणीय प्रश्न है। कुछ महानुभावों का विश्वास है कि—अहिंसा के कारण ही भारत पराधीन एवं बलहीन हुआ और हिन्दुओं में भी कायरता इसी के कारण आई। क्योंकि अहिंसा से प्रभावित होकर लोगों ने मांस खाना छोड़ दिया और सैनिक शिक्षा से घृणा करने लगे। परिणाम इसका यह हुआ कि, भारतवासी धीरे-धीरे शक्तिहीन होने लगे; तब विदेशियों ने उचित अवसर देखकर, भारत पर आक्रमण करके उसे अपने अधिकार में ले लिया।

यह विश्वास उनका कहाँ तक प्रामाणिक और सत्य को लिये हुये है, यह तो इसके आविष्कर्ता ही जानें! पर, जो इतिहास के विद्यार्थी हैं, वे कभी इन विचारों का समर्थन नहीं कर सकते। क्योंकि भारत का पुरातन इतिहास ढोल पीट कर बतला रहा है कि, जब भारत में अहिंसा-धर्मावलम्बी राजाओं का राज्य था, तब भारतवर्ष उन्नति की चरम सीमा को पहुँचा हुआ था। सुख-शान्ति, धैर्य निराकुलता और शौर्य भारत के आँगन में खेलते थे; पर जब से भारत के शासन की बागडोर हिंसावादी नरेशों के हाथों में आयी, तभी से यहाँ अशान्ति, क्लेश, मारकाट, दारुण दुःख और पिशाचनी पराधीनता का ताण्डव नृत्य

होने लगा; साथ ही राक्षसी कायरता ने भी प्रवेश करके भारतियों के शरीरों को खोखला कर दिया।

अहिंसा ही को यदि पराधीनता और कायरता का कारण मानलिया जाय, तब हिंसावादी मुस्लिम-राज्य भारत से नष्ट क्यों हो गया? मुसलमानों ने तो अहिंसा से प्रभावित होकर न माँस खाना छोड़ा था और न सैनिक शिक्षा से ही घृणा की थी, फिर क्यों इनका राज्य जाता रहा? इसी प्रकार से संसार के अनेक हिंसावादी राष्ट्रों का अन्त क्यों होगया?

मांस खाने से ही यदि वीरता का सम्बन्ध होता तो, १८५७ के विप्लव में मुस्लिम राजकुमार, सेनापति, शाहजादी, बेगम, बादशाह प्राणों के भय से क्यों गिड़गिड़ाते? हिंसावादी होते हुये भी अरब, ईरान, तुर्क, और यूनान जो अपने को वीर कहते थे, हज़रत मुहम्मद के केवल ३०--४० वर्ष के विप्लव से धर्म परिवर्तन कर बैठे--उनको सर झुका दिया। इसके विपरीत भारत के निरामिष भोजी, हज़ारों आपदायें आनेपर भी आज तक अपने धर्म को बचाये रहे। भारत की परतन्त्रता और कायरता का दोष अहिंसा के सिर मढ़ना दुराग्रह के सिवाय और कुछ नहीं हो सकता।

फिर परतंत्रता क्यों

टॉड साहब के कथनानुसार शहाबुद्दीन गौरी द्वारा हिन्दू-साम्राज्य का अन्त (ई० स० ११९३ में) होने से पूर्व, बहुत पहले यहाँ तक कि महमूद ग़ज़नवी के आनेसे पूर्व भारतवर्ष निम्न लिखित चार राज्यों में विभक्त था:-

१—दिल्ली— तँवर, और चौहानों के आधीन।

२—कन्नौज— राठौड़ों के आधीन।

३—मेवाड़— गहलोतों के आधीन।

४—अनहिलवाड़ा— चावड़ा और सोलंकियों के आधीन।

उक्त चारों राज्य वैदिक धर्मावलम्बी थे। सोलंकियों में केवल कुमारपाल प्रसिद्ध अहिंसाधर्मी जैन राजा हुआ है, किन्तु इस प्रतापशाली राजा को भारत-विजय से पूर्व ही उसके जैन-धर्म द्वेशी भतीजे अजयपाल ने स्वर्गधाम पहुँचा दिया था। अतः उक्त राजाओं में न कोई अहिंसाधर्मी था और न कोई निरामिष भोजी था। फिर भी इनके समय में भारत पराधीन होगया?

उक्त नरेशों ने शहाबुद्दीन गौरी को भारत के शासन की बागडोर सहज में ही चुपचाप दे दी हो—यह बात भी नहीं। शहाबुद्दीन क्या, तत्कालीन जितने भी विदेशियों ने आक्रमण किये, तत्र-तत्र भारतीय वीरों ने उन्हें नाकों चने चबा दिये। भारत पर आक्रमण करने से पूर्व विदेशीय सर से कफ़न बान्धकर और कलेजा थामकर भारत की ओर मुख करते थे। इन युद्धों में भारतीय वीरों ने अपनी हुङ्कार से विदेशियों के खौलते हुये रक्त को जमा दिया था, अपनी लपलपाती तलवार से शत्रुओं के जिगर पानी कर दिये थे। जिनके अतुल पराक्रम की प्रशंसा स्वयं विदेशीय इतिहासज्ञों ने मुक्तकण्ठ से की है। उस समय के भारतीय कायरता शब्द से ही अनभिज्ञ थे। आर्य-शासन का अन्त और

मुस्लिम-साम्राज्य स्थापित होने पर भी मुस्लिम शासकों क भारतियों ने चैन से न वैठने दिया। बराबर उनके शासनकाल (५०० वर्ष) तक लोहे से लोहा बजाते रहे, उनके लाख-लाख प्रयत्न करने पर भी भारतीय अपनी चोटी-वेटियों की रक्षा कर सके, आन और मान में तनिक भी अन्तर न आने दिया। और मुस्लिम-साम्राज्य नष्ट होने और वर्तमान साम्राज्य प्रारम्भ होने से अब तक वही संघर्ष जारी है। न पहिले सा शौर्य है न साधन, फिर भी आर्य सन्तान स्वतन्त्रता प्राप्त करने को दीवाने वने वैठे हैं। संसार चक्र में खूब पीसे गये, पर आज भी २३ करोड़ आर्य-सन्तान ८०० वर्ष से पराधीन जीवन व्यतीत करते हुये भी अपनी संस्कृति, धर्म, भाषा आदि को अक्षुण्ण रख कर सीना ताने खड़े हैं। हिन्दुओं के अलावा पराधीन होने पर भी इतने काल तक अपने व्यक्तित्व को बनाये रखने का उदाहरण शायद ही संसार में अन्य किसी जाति का मिल सकेगा। तब इस स्वाधीनता प्रिय जाति की जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी है। अब प्रश्न होता है कि:—

(१)—जब भारत के शासन की वागडोर चन्द्रगुप्त, अशोक, खारवेल, हर्षवर्द्धन, कुमारपाल आदि अहिंसा-धर्मी राजाओं के हाथ में थी, तब तो भारत पराधीन न हुआ, इनके अतुल पराक्रम, के आगे यहाँ विदेशियों के पाँव न जम सके और जब अहिंसा-धर्मेतर नरेशों का शासन हुआ, तब भारत पराधीन होगया। तब क्या वह नरेश पूर्व शासकों से बल-पौरुष में कुछ कम थे?

अथवा लड़ना भिड़ना पाप समझते थे ? यदि नहीं; तब भारत की परतंत्रता का कारण क्या है।

(२)—अहिंसावादी शासकों के होते हुये भारत पराधीन तो न हुआ, पर इनके होते हुये विदेशियों को आक्रमण करने की जुरअत ही कैसे हुई ?

(३)—भारतीय निरन्तर लड़ते रहने पर भी स्वाधीन न हो सके ? उल्टे उत्तरोत्तर परतन्त्रता में जकड़े क्यों चले गये ?

यह तीन प्रश्न हैं, जो भारतीय इतिहास के विद्यार्थी के सामने नाचा करते हैं। इन प्रश्नों का सीधा और सरल उत्तर यही है कि:—

(१)—दोनों धर्मी शासक महान् पराक्रमी समर-केसरी, बल-पौरुष में एक दूसरे से बढ़ कर थे, सभी स्वाधीनता प्रिय और भारत की आन-मान पर मिटने वाले थे। अन्तर केवल इतना था कि प्रथम शासक वीर होते हुये भी सदाचारी, संयमी, प्रजा-हितैषी थे, लोकहित के लिये शासन करते थे, इसीलिये जीते थे और आवश्यकता पड़ने पर इसीलिये मरते थे। अन्तिम शासकों ने यह नीति छोड़ दी थी; फूट और बैर उनके हृदयों में अपना अंकुर जमा चुके थे। विलासिता, अहङ्कार तथा झूठे जाति-मद ने उनकी रही सही विवेक-शक्ति को खो दिया था। प्रजा की सहानुभूति नहीं रही थी। यही करण है कि इन दिनों जिसने भी भारत की ओर मुँह किया, घुसता चला आया और अन्त में यहाँ अधिकार ही जमा लिया।

परतन्त्रता के मुख्य कारण

(२)—अहिंसावादी शासक विदेशियों को खदेड़ने में समर्थ चो अवश्य थे, पर उनके शासन-काल में विदेशी आक्रमण करने का साहस ही न कर सकें, यह उनकी शक्ति से बाहर था। क्योंकि विदेशियों को रहने योग्य जगह और खाने योग्य सामग्री की तलाश थी। 'भूखा मरता क्या न करता'—इस वाक्य के अनुसार वह लोग इसके लिये संसार की बड़ी से बड़ी मुसीबत सहन करने के लिये प्रस्तुत होकर भारत पर आक्रमण करते थे। भारत को सोने की खान सुनकर विदेशियों को साम्राज्य-लिप्सा का भूत इधर वलात् खींच लाता था।

(३)—विदेशियों से निरन्तर संघर्ष रखते हुये भी भारतीय-वीर स्वतन्त्रता का सुनेहरा प्रभात न देख सके, उत्तरोत्तर परतन्त्रता के बन्धन में जकड़े ही चले गये, इसके कई कारण हैं:—

(१) संगठन का अभाव—एक प्रान्त को दूसरे प्रान्त से सहानुभूति नहीं थी। पारस्परिक विद्रोहानल ने एक दूसरे को भस्मीभूत करने का प्रयत्न किया, निरन्तर आपस में लड़ते रहे, कभी एक साथ मिलकर विदेशियों का मुक़ाबिला नहीं किया, उल्टा विदेशीय आक्रमण कर्त्ताओं का पक्ष लेकर अपने शत्रुओं को नीचा दिखाने का अधम प्रयत्न किया। धर्मराज युधिष्ठिर के इस सुनेहरी वाक्य को भूल गये कि "हम आपस में कौरव और पाण्डव मत-भेद होने के कारण लड़ेंगे-मरेंगे, किन्तु, दूसरों के सम्मुख एक होकर डटेंगे"।

(२) राजनैतिक अनैक्यता—भारत में राजनैतिकता का

अभाव सदैव खटकता रहा है। सिकन्दर-आक्रमण के बाद भारतवासी राजनैतिक एकता का मूल्य आँक पाये थे; तभी चन्द्रगुप्त, अशोक, खारवेल आदि के सद्प्रयत्नों से यहाँ विशाल साम्राज्य स्थापित हो सका और तब एकाएक यहाँ विदेशियों को आक्रमण करने का साहस न हो सका। किन्तु अनैक्यता होते ही फिर विदेशियों के गोल के गोल आने प्रारम्भ होगये। कहने को १ चौहान २ राठौड़ ३ सोलंकी ४ गहलोत उन दिनों भारत में चार बड़े राज्य थे, किन्तु इनके अलावा भी सैकड़ों अन्य छोटे-मोटे राज्य थे। सभी अपने को चक्रवर्ती समझते थे, अपनी सहायता के लिये दूसरे को निमंत्रित करना तुच्छ समझते थे। अपने-अपने स्थान पर विदेशियों का मुक़ाबिला किया। जीते जी आगे न बढ़ने दिया, पर सबने मिलकर भारत की सीमा पर विदेशियों को रोकने का विचार तक न किया। अपने-अपने स्थान पर मदमाते सिंह की भाँति गुर्राते रहे, पर आगे बढ़ कर न रोका। पड़ोस में आग दहकती देखकर भी मस्त पड़े रहे, जब उस आग ने अपने को आ घेरा, तब सिर पीट कर रह गये।

(३) धार्मिक विभिन्नता—भारत परतन्त्र होते समय यहाँ धर्म की बाढ़ सी आगई थी। क्या राजा क्या प्रजा, सभी धर्म की रट लगाये हुये थे, प्रत्येक व्यक्ति जीवन-मुक्त होना चाहता था। किन्तु यह धर्म की बाढ़ भारत-वासियों का मनुष्यत्व बहाने आई थी, सो मनुष्यत्व बहाकर ही छोड़ा। धर्म के नाम पर खून की नदियाँ बहाई गईं। भाई-भाई का शत्रु बन बैठा।

एक धर्मावलम्बी अन्य धर्मों के लिये बबालेजान होगया। जितने मनुष्य उतने ही धर्म प्रचलित हो गये। एक दूसरे से सहानुभूति रखने के बजाय घात-प्रतिघात के उपाय में रहने लगे। धार्मिक विवादों के कारण राजनैतिक कार्य शिथिल पड़ने लगे। शासकों का ध्यान सैन्य संगठन से हटकर धार्मिक कार्यों की ओर आकर्षित होने लगा। धर्मान्धता के कारण निर्बल सम्प्रदाय वालों पर अत्याचार किये गये और वह अत्याचार-पीड़ित स्वभावतः राष्ट्र के शत्रु बन बैठे या उदासीन भाव से रहने लगे।

(४) अन्धविश्वास—धार्मिक दीवानगी को अन्धविश्वास ने और भी प्रोत्साहन दिया। अन्धविश्वास सब पापों की जड़ * है। संसार में अनेक दुष्कृत्य अन्धविश्वास के कारण ही होते देखे गये है। उस समय के अधिकांश भारतीय अपने इस विश्वास के कारण कि—यह कलियुग है, इस लिये धर्म का नाश और म्लेच्छ राजाओं का राज्य होना अवश्यम्भावी है, ईश्वरीय नियम का प्रतिकार करना पाप है—विदेशियों के उत्पातों को साम्यभाव से देखते रहे। दूसरे एक विद्वान् के शब्दों में—भारतियों का यह भी विश्वास था, कि जब मूर्तियाँ ही अपनी शक्ति से मुसलमानों को न हटा सकीं, उल्टा उनके आगे पराजित होगईं, नष्ट-भ्रष्ट होगयीं—तब हमारा उनसे विजयी होना अशक्य है।

---

* निबल, निरुद्यम, निर्धनी, नास्तिक, निपट, निरास।
जड़, कादर, कर देतु हैं, नरहिं अन्ध विश्वास॥
—वियोगीहरि

किन्तु, वह यह भूल गये कि मूर्ति, ईश्वर या देवता का केवल प्रतिविम्ब है—उसे स्मरण रखने का केवल एक सहारा है। मूर्ति के खण्डन-मण्डन से ईश्वर या देवता का मान-अपमान नहीं, अपितु मान-अपमान उस राष्ट्र अथवा समाज का है, जो उस मूर्ति का प्रतिष्ठापक और उपासक है। विक्टोरिया की मूर्ति पर तारकोल फेरनेवाला विक्टोरिया का नहीं, अपितु उसके स्थापित करनेवाली गवर्नमेण्ट का अपमान करता है। मूर्ति-पूजा के सम्बन्ध में अन्धविश्वास यहाँ तक बढ़ गया था, कि लोग-उनमें अलौकिक चमत्कार की सामर्थ्य समझने लगे थे। कन्नौज के प्रतिहार सम्राट् मुलतान लेने में समर्थ होते हुये भी, वे जब-जब उसे लेने के लिये गये, तब-तब वहाँ के मुसलमान अधिकारी ने, उन्हें यह धमकी देकर कि—यदि तुम आगे बढ़ोगे तो हम यहाँ की सूर्य की प्रसिद्ध मूर्ति तोड़ डालेंगे—पीछे हटा देते थे"।

"महमूद के आक्रमण ने लोगों को दिखा दिया, कि मन्दिरों या मूर्तियों पर सोना और ज़ेवर लादना पागलपन है, चोर-डाकुओं और विधर्मियों को लूटने के लिये निमंत्रण देना है। जहाँ इस सम्पत्ति का उपयोग राजाओं को प्रबल सेना रखने में तथा धनिकों को समाज-सुधार के कार्य में करना था, वहाँ मन्दिरों और मूर्तियों के सजाने में व्यय हुई। जिससे दोनों तरह देश का नाश हुआ। मन्दिरों की सम्पत्ति से आकर्षित होकर विदेशियों ने आक्रमण किये, उनको नष्ट करने का हौसला बढ़ा और अरबों रुपये की सम्पत्ति बाहर

चली गई। साथ ही भारत बलहीन, लक्ष्मीहीन और परतंत्र होगया। इन बातों पर हमारा ध्यान अभी तक नहीं गया है। मूर्ति-पूजा छोड़ना आवश्यक नहीं, वरन मूर्ति विशेष में अद्भुत शक्ति होने का अन्धविश्वास × नष्ट कर इस विचार को दृढ़ करने की

× महमूद ग़ज़नवी का वर्णन करते हुये ऐसे ही अन्ध-विश्वास का उल्लेख श्री जगदीशचन्द्र माथुर ने जनवरी सन् ३४ के चान्द में निम्न प्रकार किया है:—

"महमूद ग़जनवी ने जब सोमनाथ पर आक्रमण किया, तब मन्दिर की प्राचीरों पर हिन्दू-सैनिक गर्व से ऊँचा मस्तक किये हुये उसकी सेना का मज़ाक उड़ा रहे थे:—

'बेचारे मुसलमान श्रीसोमनाथ की शक्ति के विरुद्ध युद्ध करेंगे! पागल हुये है'!! सान्ध्यकाल में एक दूत हिन्दुओं की ओर से महमूद के पास आया, और बोला 'कि सोमनाथ ने अपनी शक्ति के द्वारा महमूद को यहाँ खींच लिया है, जिससे वे महमूद और उसकी सेना का विनाश करदें'। प्रत्युत्तर में महमूद ने केवल मुस्करा दिया। उसे यह भी समाचार मिला कि, मन्दिर के पुजारियों ने यह घोषणा की थी 'कि श्री सोमेश्वर भगवान् दिल्ली और कन्नोज के मनुष्यों के पापों से क्रुद्ध हो गये थे और इसीलिये महमूद के अत्याचारों के रूप में उन्हें अपने दुष्कृत्यों का फल भोगना पड़ा। नहीं तो अब तक तो वे महमूद की सेना को कभी के पलभर में नष्ट कर देते। महमूद सब कुछ सुनता और बुद्धि की तराज़ू

आवश्यकता है, कि यह अद्भुत शक्ति मूर्ति में नहीं, हमारी भावना में है। इसी प्रकार इस धारणा का नष्ट होना भी आवश्यक है कि, मन्दिरों या मूर्तियों पर अधिक द्रव्य चढ़ाने से

पर तोल कर ऐसी किम्बदन्तियों को भूल जाता। असीम श्रद्धा ने उधर हिन्दुओं से आत्मनिर्भता के गुण को छीन लिया था। क्या ही अच्छा होता, यदि वे अपनी भुजाओं पर भी उतना ही विश्वास रखते, जितना उन्हें सोमनाथ की भक्तवत्सलता पर था। 'भगवान् उसी का त्राण करते हैं, जो अपनी रक्षा आप करते हैं' इस सिद्धान्त के वजाय 'भगवान् आप वचायेंगे, हमें क्या चिन्ता है' इस अन्धविश्वास ने उस समय के हिन्दुओं को निशक्त वना दिया था, उनको खोखला कर दिया था,······कुछ हिन्दू विश्वास-घातियों ने महमूद को वताया कि, मन्दिर के शिखर पर जो पताका लहरा रही है। वही हिन्दुओं के साहस का संवर्द्धन करती है, यदि किसी प्रकार उसे नीचा कर दिया जाय, तो देवता का शाप जानकर हिन्दू निराश हो जाँयेंगे और विजय निश्चय होगी। महमूद ने उन्हीं में से एक विभीषण को धन देकर पताका झुकाने के लिये राज़ी कर लिया। और जव हिन्दू जान पर खेलकर लड़ रहे थे, तभी वह सोमनाथ का झण्डा नीचे झुकने लगा। वस हिन्दुओं ने समझा कि यह दैवी इच्छा है कि वे पराजित हों। साहस धीरे-धीरे कम होने लगा। एक वार की छूटी लगाम फिर हाथ न आई और हिन्दू पीछे हटते चले गये"।

अधिक पुण्य प्राप्त होता है। क्योंकि इसी द्रव्य के कारण महन्त, भट्टारक, पुजारी प्रलोभित होते हैं, अनेक दुराचार करते हैं और देवताओं का अपमान करने की मूर्ति-भंजकों की इच्छा प्रबल होती है"।

(५) राष्ट्रीयता का अभाव—विदेशियों के गोल के गोल सुदूर देशों से आक्रमण करते, पर भारतीय जब सम्हलते, जब कि वह इन पर बाज की तरह टूट पड़ते। विदेशीय सुदूर देशों से विशालकाय पर्वतों, नदियों को पार करते हुये, बीहड़ बनों, पथरीले मार्गों, रेतीले प्रदेशों और बर्फीले स्थानों की कठिनाइयाँ सहन करके, भूखे-प्यासे आक्रमण करते, पर भारतवासी निश्चिन्त बने रहते थे। अराष्ट्रीयता और राजनैतिक उदासीनता ही इस अकर्मण्यता की मुख्य कारण थीं। निरन्तर परस्पर संघर्ष रहने के कारण और फिर विदेशीय शक-हूण आदि शासकों द्वारा—उनके भारतीय-धर्म स्वीकार कर लेने पर—शासित होने के कारण, पंजाब में अपने-पराये, देशी-विदेशी अथवा राष्ट्रीयता के भाव नष्ट हो चुके थे। "कोऊ नृप होय हमें कहा हानि" यह भाव पंजाब में जोर पकड़ चुके थे। राजनीति से दिलचस्पी नहीं रही थी। दूसरे अनेक शूरवीर जातियाँ उत्तरोत्तर मारकाट से तंग आकर सैनिक-वृत्ति छोड़ कर, कृषि-व्यापार आदि उद्योग-धन्दों में लग गईं थीं। कितने ही राज्यवंश, राज्य चले जाने अथवा क्षीण शक्ति होने के कारण, अपने अपने गाँवों, देहातों में चौधरी, नम्बरदार, मुखिया, पटेल,

सरदारादि बन कर इने-गिने आदमियों पर ही रौब गाँठने, बड़प्पन छाँटने में जीवन की सार्थकता समझने लगे थे। विदेशीय झुण्ड के झुण्ड आते, नगरों को जलाते, पर चौधराहट और मुखियागीरी बनाये रखने के लोभ से इन उपद्रवों की ओर देखते हुये भी न देखते। जिस प्रकार कबूतर बिल्ली को देखकर इस धारणा से आँखें बन्द कर लेता है कि—जब मैं ही बिल्ली को न देखूंगा, तब वह भी मेरी ओर क्यों देखने लगी? उसी भाव से यह लोग भी आँखें बन्द कर लेते थे। अतः जब विदेशियों को यहाँ की राजनैतिक उदासीनता राष्ट्रीयता और संगठन के अभाव के कारण सरलता पूर्वक भारत में प्रवेश करने का अनायास ही अवसर मिल जाता था; तब आगे बढ़नें पर इनके वेग को असंगठित राजपूत रोकने में समर्थ्य क्योंकर होते? इस दावानल के सामने जो भी पड़ा, भस्मीभूत होता चला गया।

(६) सहिष्णुता और धर्म भीरुता—जिस भारत के पास रामायण, महाभारत और गीता जैसे ग्रन्थ हों, वह उत्तरोत्तर विदेशियों से मार खाता रहा और अन्त में पराधीन होगया—इसका कारण है, भारतवासियों की आवश्यकता से अधिक धर्मभीरुता और सहिष्णुता! धर्मवीर और कर्मवीर भारतवासी धर्मभीरु बन बैठे। संसार असार है, दुनिया धोखे की टट्टी है—आदि भावनायें भारतियों के मस्तिष्क में प्रवेश कर गई थीं। परिणाम-स्वरूप हर-एक मोक्ष-प्राप्ति की धुन में रहने

लगा, इस संसार में रहते हुये भी इसे निकृष्ट और त्याज्य समझने लगा, इसके हिताहित से कोई सरोकार नहीं रहा। उन्हें इतना भी ख़याल न रहा कि, मोक्ष-प्राप्ति के लिये जहाँ तपश्चर्या करनी है, उस क्षेत्र को पवित्र और सुरक्षित रखने की अत्यन्त आवश्यकता है। विदेशियों और विधर्मियों के अधिकृत होने पर सानन्द और निर्विघ्न धर्म साधन नहीं किया जा सकेगा। यही धर्मभीरुता आवश्यकता से अधिक सहिष्णुता में परिणित हो गई। सहिष्णुता, शान्ति और सत्र की भी कोई सीमा है; इन सबका भारतीय धर्मशास्त्रों में सुन्दर विवेचन किया गया है, किन्तु यह सब भूल गये। विदेशीय यहाँ आक्रमण करते रहे, पर यहाँ वालों ने (एक दो राजाओं को छोड़ कर) शान्ति-भंग होने के ख़याल से विदेशों पर आक्रमण नहीं किया। भारत की सीमा में ही परिमित रहे, विदेशियों के निरन्तर आक्रमण रोकते २ निशक्त होते गये, पर यह न सोचा कि हम अनार्य देश में भले ही न जाँय, अनार्य तो यहाँ आकर हमारी रीति-रिवाज, खान-पान, आचार-व्यवहार और सुख-शान्ति में विप्लव मचा ही देंगे!

(७) धार्मिक संकीर्णता और अनुदारता—जिस वर्ण-व्यवस्था, धार्मिक सङ्कीर्णता और अनुदारता का अन्त करके, महावीर और बुद्ध ने मानव समाज को धर्म और राजनीति के समान अधिकार दिये थे। जिसका अनुसरण करके—यूनानी

सिल्यूकस की पुत्री हेलीना के साथ विवाह करके—चन्द्रगुप्त मौर्य ने बुद्धिमत्ता का परिचय दिया था, अशोक और सम्प्रति ने भारत के बाहर भी धार्मिक उपदेशक भेज कर; म्लेच्छ, अनार्य, असभ्य कहलाने वाली जातियों को निरामिष भोजी, धार्मिक और सभ्य बनाकर विशाल सहृदयता का परिचय दिया था। और जिन भारतवासियों ने शक-हूण जैसी जातियों को पचाकर—अपना अङ्ग बनाकर—धार्मिक उदारता और वात्सल्यता का उदाहरण दिया था, वही मनोवृत्ति वर्ण-व्यवस्थाभिमानियों और जाति-मतान्धों द्वारा नष्ट करदी गई। मुस्लिम आक्रमण काल में भी यदि भारतीय अपना विशाल हृदय अपनाने के लिये प्रस्तुत रखते, तो निसन्देह भारत आज पराधीनता के दुख भोगता हुआ न होता। और न हिन्दुओं को इन आये दिन के सङ्कटों का सामना करना पड़ता। जिनके पुराण ग्रन्थों में पतितोद्धार, वात्सल्य, धर्म-प्रभावना और विधर्मियों को साधर्मी बनाने के अनेक दृष्टान्त भरे पड़े थे, वही भारतीय संकुचित मनोवृत्ति स्वीकार करके, अपनों को ही दुर-दुर कर रहे थे। उन दिनों जाति-मदान्ध भारतियों का यह विश्वास था कि—विदेशियों-विधर्मियों द्वारा धोखे से अथवा बल पूर्वक जाने-अनजाने च्युत किये जाने पर, सदैव के लिये धर्म-भ्रष्ट हो जाता है, फिर वह न तो पतित पावनी गंगा में स्नान करके पवित्र हो सकता है और न विश्वोद्धारक ईश्वर के निकट प्रायश्चित लेने पर

पुनः अपने धर्म में आ सकता है। हिन्दुधर्म में पापी से पापी प्राणी के लिये साधना करने पर मोक्ष का दर्वाजा खुला है, किन्तु विधर्मी बनाये जानें पर, वह लाख प्रयत्न करने पर भी सहधर्मी नहीं बनाया जा सकता—इन्हीं विश्वासों के कारण यहाँ की कितनी ही लड़ाकू जातियाँ मुसलमानों द्वारा बर्बस च्युत किये जाने पर वह पुनः हिन्दू न हो सकीं, उन्हें फिर मजबूरन धर्म-भ्रष्ट करने वालों का ही धर्म स्वीकार करना पड़ा। फिर यही हिन्दू-नौ मुस्लिम, प्रतिहिंसा से प्रेरित होकर हिन्दू-हितों में कुठाराघात करने लगे। जिन क़ौमों को हिन्दू पतित, नीच, अस्पृश्य समझते थे, उन्हीं जातियों को मुस्लिम आक्रमण कर्ताओं ने समानाधिकार देकर अपने पक्ष में कर लिया, फिर यही जातियाँ भारत को विजित कराने में सहायक हुई।

धर्म क्या था बालू रेत का किला था, ज़रा किसी ने छुआ कि वह ओन्धे मुँह गिर पड़ा। मुस्लिम-आक्रमण काल में समूचे भारतवर्ष में केवल चार करोड़ ऐसे मनुष्य थे, जो सैनिक-वृत्ति धारण किये हुये थे, वह भी अपने-अपने प्रान्तों में असंगठित रूप में बिखरे हुये थे। शूद्र कहे जाने वाली जातियों में भी योद्धा थे किन्तु वह उच्च वर्णों के साथ मिल कर लड़ने की हिम्मत ही कैसे कर सकते थे? उनकी छाया से लोगों को घृणा थी। यदि किन्हीं अस्पृश्य कही जानेवाली जातियों ने साहस करके कुमक देने का

प्रयत्न किया भी तो वहाँ नीच-ऊँच की समस्या उपस्थित होगई।✻

जिन जातियों को दुर्भाग्यवश हिन्दू जाति अब भी पतित, नीच, अस्पृश्य समझती है और जिनके विधर्मी होजाने, वेश्या-वृत्ति अथवा चोरी जारी करने में वह अपना अपमान नहीं समझती। इन्हीं पतित समझी जाने वाली जातियों को करोड़ों की संख्या में ईसाई और मुसलमान बनाकर उस धर्म के अनुयायी अपनी सफलता का ढोल पीट रहे हैं। हिन्दू जाति में आज भी नायक, दरोग कंजर, साँसी, बाजीगर, नट, बेढ़नी आदि अनेक जातियाँ प्रायः व्यभिचार जनित या दास-वृत्ति आदि का कार्य करती हैं। जिस प्रकार भारत में मलमूत्र उठाने वाले मनुष्यों को देखकर उच्चवर्ण वाले हिन्दू अपना अपमान नहीं समझते, उसही प्रकार उक्त जातियों के विधर्मी होने, वेश्या-वृत्ति और दासत्व वृत्ति करते हुये देखकर लज्जा का अनुभव नहीं करते। मानों यह नीच समझीं गईं जातियाँ संसार के भोगोपभोग के लिये ही उत्पन्न की गईं हैं।

✻ जँजीरा के युद्ध में अन्य सेनादलों के साथ महारों (एक अस्पृश्य जाति) का सेनादल भी लड़ने को भेजा गया था। जब यह सेना खरदा के मैदान में पड़ाव किये हुवे थी, तो सिद्धनाथ महार ने आकर अपना डेरा अन्य ब्राह्मण सरदारों के बगल में ही गाड़ दिया था। यह बात स्वभावतः सरदारों को बुरी लगी और अन्त में यह पेशवा माधोराम के कानों तक पहुँची।

आश्चर्य तो यह है कि, ८०० वर्ष से निरन्तर ठोकरें खाते रहने पर, इस सभ्यता और सुधार के युग में भी हिन्दू जाति को इस झूठे जाति-मद ने ऐसा भ्रम-मूलक बना रक्खा है कि, आज भी इन अभागी जातियों की दशा सुधारने, उन्हें अपनाने के बजाय पतित और दुर-दुर किया जा रहा है। इन नीच कही जानेवाली जातियों का केवल यही अपराध है कि, यह भारतीय रीति-रिवाज की पाबन्द हैं, सिर पर चोटी रखने वालीं, गौ-माँस न खाने वालीं और अपने को अभी तक हिन्दू समझती आ रही हैं। इन में से कई करोड़ उक्त बन्धनों को तोड़ कर विदेशीय धर्म और रीति-रस्म के पाबन्द होकर गौ-भक्षक बन कर उच्च (!) बन गये हैं; और हिन्दू जाति में उच्चता का दम भरने वालों से गिन-गिन करके अपना बदला ले रहे हैं; किन्तु हिन्दू जाति अभी तक लकीर की फकीर बनी हुई है।

हा! हिन्दू जाति का यह कैसा विचित्र रिवाज है कि, यह कुत्ते बिल्लियों को प्यार से स्पर्श कर सकती है, उन्हें बर्तनों में भोजन खिला सकती है, किन्तु नीच कही जाने वाली जाति में उत्पन्न मनुष्य को अपने कुँओं पर नहीं चढ़नें देती। रमुआ चमार और बुधुआ भंगी जब तक हिन्दू बने रहते हैं ठुकराये जाते हैं, किन्तु चोटी कटाकर, गोमाँस खाकर रमुआ, रहीमबख्श और बुधुआ बुधसिंह जोजफ हुए कि वह आदर के पात्र बन जाते हैं। उनसे हाथ मिलाने तथा डालियाँ भेंट करने में वही हिन्दू फिर गौरव का अनुभव करते हैं। वही हिन्दू जाति जो

मुसलमानों के आने से पूर्व विदेश से आने वाली शक हूण, ग्रीक आदि जातियों को अपना सकी थी, वही आज संकीर्णता और अनुदारता के कारण इस दुरावस्था को पहुँची हुई है।

(८) विजेताओं के गुण—जहाँ हिन्दुओं में उक्त अनेक कमियाँ थीं, वहाँ मुस्लिम आक्रमण कर्त्ताओं में विजेता होने के सब गुण विद्यमान थे। वह रोटी और रहने योग्य स्थान की तलाश में निकले थे। मार्ग में जो भी मिला, उसे अपनाते चले गये। न कोई छोटा न कोई बड़ा, धार्मिक और मनुष्यता के अधिकार सबको समान थे। हरएक को एक-दूसरे के सुख-दुख का खयाल था। अपनी जाति के हित में अपना हित और अहित में अपना अहित समझते थे। युद्ध होता सब जी जानसे लड़ते, इबादत (उपासना) के वक्त, बादशाह, सेनापति, वज़ीर, सरदार, चोबदार, अदना सिपाही सब एक लाइन में खड़े होकर निमाज़ पढ़ते। न उस समय कोई ऊँच था न नीच। भोजन के वक्त जिसका जिससे दिल मिलता, एक दस्तरख्वान पर बैठ कर प्रीति-पूर्वक भोजन करते। तात्पर्य यह है कि, इन आक्रमणकर्त्ताओं की जाति एक, धर्म एक, सभ्यता एक, भाषा एक, भोजन एक, विश्वास एक, स्वभाव एक और स्वार्थ एक; तब वह विजयी क्यों न होते? प्रकृति पुकार पुकार कर कह रही हैं:—

'विजयी वह होंगे जो एक होंगे'

यदि भारत में पारस्परिक विद्रोहानल उत्पन्न नहीं हुआ होता, विलासिता ने यहाँ के शासकों को अकर्मण्य न किया होता देशद्रोह और विश्वासघात के विषैले कीटाणुओं ने भारत के पवित्र वायुमण्डल को दूषित न किया होता, अहङ्कार, स्वार्थ, अन्धविश्वास और जातिमद के नशे ने भारतियों की बुद्धि नष्ट न की हुई होती, तो आज भारतवर्ष परतंत्रता की वेड़ी में जकड़ा हुआ न होता।

तेरी महफ़िल से उठाता ग़ैर, मुझको क्या मजाल?
देखता था मैं कि तूने ही इशारा कर दिया॥

—अज्ञात

लेखक की रचनायें

---

१. राजपूताने के जैनवीर (सचित्र ऐतिहासिक) पृष्ठ ३५२ मू० २)
२. मौर्यसाम्राज्य के जैनवीर " १७६ " ।≈)
३. जैनवीरों का इतिहास " १६० " ।)
४. आर्यकालीन भारत " १४४ " ।≈)
५. मुस्लिम कालीन भारत " अप्रकाशित
६. वर्तमान भारत " "
७. संगठन का त्रिगुल (सामाजिक निबन्ध) . समाप्त
८. दास पुष्पाञ्जली (धार्मिक, समाजिक, पृ० ६४ मू० ।)
९. दासकुसुमाञ्जली (राष्ट्रीय गजलें) १६ ,, ‒)
१०. विश्वप्रेम और सेवा धर्म (निबन्ध) ३२ ,, ‒)
११. अबलाओं के आँसू (तीन करुण कहानी) ८० ,, ।)
१२. उजलेपोश बदमाश (यथानाम) ३२ ,, ‒)
१३. चटपटी कहानियाँ (मनोरंजक कहानियों का संग्रह) अप्रकाशित
१४. सुमन-संचय [उर्दू की कविता का रहस्य उर्दू शेरों का चयन, उनकी टीका] "
१५. दिल्ली का ठग (पत्तेबाज, जेबकतरे, उठाईगीरों की करतूत)
१६. म्यूनिसपल उम्मीदवार "
१७. अहिंसा और कायरता "

व्यवस्थापक—
हिन्दी विद्यामन्दिर
पहाड़ी धीरज, दिल्ली।